



श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

भाषा टीका

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमल

अनुवाद

वैद्य गंभीरचन्द जैन, अलीगंज

प्रस्तावना

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर

संपादन

ब्र. यशपाल जैन, जयपुर

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर-302 015

एवं

श्रीमती भंवरीदेवी घीसालालजी छाबड़ा

चैरिटेबल ट्रस्ट, सूरत (गुजरात)

प्रथम सात संस्करण : 20 हजार 300

अष्टम संस्करण : 2 हजार

(26 जुलाई 2010)

वीर शासन जयन्ती

योग : 22 हजार 300

मूल्य : 30 रुपये

टाइपसेटिंग :

त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स

ए-4 बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :

प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड

बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

परमपूज्य आचार्य अमृतचन्द्र विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ का अष्टम संस्करण का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

इस ग्रन्थ के प्रणेता वे महापुरुष हैं, जिन्होंने आचार्य कुन्दकुन्ददेव विरचित समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय संग्रह ग्रन्थों की अति गहन एवं गंभीर टीकाएँ लिखकर अलौकिक कार्य किया है। उपर्युक्त संस्कृत टीकाओं के उपरान्त तत्त्वार्थसार, पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय और लघुतत्त्व स्फोट (शक्तिमणिकोष) नामक तीन स्वतंत्र और मौलिक कृतियाँ भी आपकी ही हैं। प्रस्तुत कृति को जिनप्रवचनरहस्यकोष नाम से भी जाना जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की टीका पण्डित श्री टोडरमलजी ने की है, जो अपूर्ण रह गयी है, उसे पण्डित श्री दौलतरामजी कासलीवाल ने वि. सं. 1827 में पूर्ण की है। इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद अध्यात्मरसिक भाई वैद्य गम्भीरचन्दजी जैन, अलीगंज ने किया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन अष्टम संस्करण के द्वारा आज तक 22 हजार 300 की संख्या में हो चुका है। समाज से इस ग्रन्थ के लिए लगातार माँग आती रही है; इसलिए अष्टम संस्करण के प्रकाशन का प्रयास है।

अत्यन्त सूक्ष्मता से अध्ययन करनेवाले अनेक मुमुक्षु भाई-बहिन इन दिनों में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रभावना योग से तैयार हो गये हैं। भोपाल निवासी पण्डित राजमलजी भाईसाहब ने इस शास्त्र का बारीकी से स्वाध्याय करने के बाद कुछ कमियों (अशुद्धियाँ एवं अनुवाद की कमियों) का ज्ञान कराया।

मुझे उनकी बात जच गयी। मैंने स्वयं भी श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मण्डल, रामाशाह मन्दिर मल्हारगंज इन्दौर (म.प्र.) से प्रकाशित ढूँढारी भाषा टीका का सूक्ष्मता से अवलोकन किया। यह प्रति हस्तलिखित प्रति से मिलान करने के बाद छपाई गयी है। अतः इस संस्करण को यथासम्भव निर्दोष एवं शुद्ध करने का प्रयास किया है। हमने 'संपादन में नयेपने का ज्ञान' भी अगले पेज पर ही कराया है।

इस ग्रन्थ की मुद्रण व्यवस्था के लिए श्री अखिलजी बंसल का, कष्टसाध्य टाइप सेटिंग करनेवाले श्री श्रीमन्त नेज शास्त्री एवं ग्रन्थ को अल्प मूल्य में जन-जन तक पहुँचाने हेतु जिन महानुभावों ने अपना आर्थिक सहयोग दिया है, उन सभी का हम हृदय से आभार मानते हैं।

आप सभी इस ग्रन्थ का अधिकाधिक स्वाध्याय कर चिन्तन-मनन करें और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करें, इसी भावना के साथ ह

ह्र ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

सम्पादन में नवीनता

1. ग्रन्थ में टाइप पहले की अपेक्षा अधिक बड़ा लिया है।
2. पाठकों को स्वाध्याय करने में सुविधा हो, इसलिए अनेक प्रकार के टाइप का प्रयोग किया है।
3. छपाई में अशुद्धि न रहे, ऐसा किया हुआ प्रयास पाठकों को समझ में आयेगा ही।
4. पण्डित श्री टोडरमलजी के ढूँढ़ारी भाषा के मूल प्रति के साथ मिलान करके विशिष्ट सुधार भी किया है।
5. विषयानुसार अध्याय का विभाजन भी समझ में आवे, ऐसा किया है।
6. प्रत्येक अध्याय का प्रारंभ नये पेज से है, यह तो स्पष्ट ज्ञान में झलकेगा ही, साथ-ही साथ अहिंसाणुव्रत आदि विशिष्ट विषय भी नये पेज से ही दिये गये हैं।
7. पण्डित श्री टोडरमलजी कृत भाषा टीका एवं पण्डित श्री दौलतरामजी कासलीवाल कृत भाषा टीका के विभाजन का भी विशद ज्ञान कराया है।
8. पाठकों के स्वाध्याय में सुविधा हो, इस अभिप्राय से बड़े-बड़े अनुच्छेदों को विषयानुसार छोटे-छोटे अनुच्छेद बनाये हैं।
9. प्रत्येक पेज पर विषय के अनुसार फोलियो दिये हैं।
10. जिन श्लोकों के हैडिंग/मथाला नहीं थे, उन श्लोकों के लिए भी हमने अपने अध्ययन के आधार से हैडिंग दिये हैं।

प्रस्तावना

आचार्य अमृतचन्द्र और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

ह्व पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न,
एम.ए., बी.एड.

आचार्य अमृतचन्द्र व्यक्तित्व :ह्व

अपने विषय में सदा मौन रहने वाले आचार्य अमृतचन्द्र के जीवनपरिचय से हमारा धर्म प्रेमी समाज जितना अपरिचित है, उनके कर्तृत्व से वह आज उतना ही अधिक परिचित हो चुका है; क्योंकि दिगम्बर जैन समाज में श्री कानजी स्वामी के उदय से आज आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र का साहित्य सर्वाधिक पढ़ा-सुना जाने लगा है।

लोक और लोकैषणा से दूर रहने वाले, वनवासी, निरीह, निःस्पृह, साधु-सन्तों का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है कि वे केवल आत्मा-परमात्मा का ही चिन्तन-मनन एवं उसी की चर्चा-वार्ता करते हैं, अन्य लौकिक वार्ता एवं अपनी-पराई व्यक्तिगत बातों से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं होता।

यदि लिखने-पढ़ने का विकल्प आता है तो केवल वीतराग वाणी को लिखने-पढ़ने का ही विकल्प आता है; अतः उनसे स्वयं के जीवन-परिचय के विषय में कुछ कहने, सुनने या लिखने की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

हाँ, उनके साहित्य-दर्पण में उनके व्यक्तित्व की झाँकी अवश्य देखी जा सकती है।

वस्तुतः तो उनका कर्तृत्व ही उनका परिचय है और सौभाग्य से आज का स्वाध्यायी समाज उनके कर्तृत्व से अपरिचित नहीं है।

एक साधु का इससे अधिक और परिचय हो भी क्या सकता है ? न उनका कोई गाँव होता है, न ठाँव, न कोई कुटुम्ब होता है, न परिवार। उनके व्यक्तित्व का निर्माण उनकी तीव्रतम आध्यात्मिक रुचि, निर्मल वीतराग परिणति एवं जगतजनों के उद्धार की वात्सल्यमयी पावन भावना से ही होता है, जो उनके साहित्य में पग-पग पर प्रस्फुटित हुई है।

जब उनमें मोह-मग्न विश्व के प्रति वात्सल्यभाव जागृत होता है तो वे करुणा विगलित हो कहने लगते हैं :ह

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनम्।
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्॥^१

“हे जगत के जीवो! अनादिकालीन मोह-मग्नता को छोड़ो और रसिकजनों को रुचिकर उदीयमान ज्ञान का आस्वादन करो !”

तथा ह

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करणीं भरेण ह
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः॥^२

“यह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा भ्रमरूप चादर को समूलरूप से हटाकर सर्वांग से प्रकट हुआ है, अतः अब समस्त लोक (विश्व) एक साथ ही उस शान्त रस में पूरी तरह निमग्न हो जाओ, डूब जाओ, उसी में बारम्बार गोते लगाओ।”

और भी देखिए, वे आत्महित में प्रवृत्त होने की प्रेरणा कितने कोमल शब्दों में दे रहे हैं ह

अथि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्-
अनुभवभवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्^३

१. समयसार कलश, २२
२. वही, ३२
३. वही, २३

“अरे भाई ! तू किसी भी तरह मरकर भी अर्थात् महा कष्ट उठाना पड़े तो भी, तत्त्व का कौतूहली हो जा और केवल दो घड़ी के लिए ही सही, इस शरीर का भी पड़ौसी बनकर आत्मा का अनुभव कर ! तेरे सब दुःख दूर हो जायेंगे।”

मानो उनका हृदय शिष्यों को समझाने से थकता है तो वे अपने ही मन को समझाने लगते हैं ह

अलमलमति जल्पै दुर्विकल्पैरनल्पै ह
रयमिह परमार्थश्चिंत्यतां नित्यमेकः।^१

“बहुत कथन से और बहुत दुर्विकल्पों से बस होओ, बस होओ और एक मात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो; क्योंकि समयसार के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है।”

आचार्य कुन्दकुन्द के कंचन को कुन्दन बनाने वाले एक मात्र आचार्य अमृतचन्द्र ही हैं, जिन्होंने एक हजार वर्ष बाद उनके ग्रन्थों पर रहस्योद्घाटक, बेजोड़ टीकायें लिखकर उनकी गरिमा को जगत के सामने रखा।

यह तो संभव नहीं है कि आचार्य अमृतचन्द्र के पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द का साहित्य पठन-पाठन में न रहा हो; क्योंकि परवर्ती साहित्यकारों ने जिस सम्मान के साथ उन्हें याद किया है, उससे प्रतीत होता है कि वे जिन-परम्परा में कभी भी अपरिचित या अचर्चित नहीं रहे; तथापि आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं के पूर्व उनके साहित्य पर लिखी गई टीकायें आज हमें उपलब्ध नहीं हैं और न ऐसे उल्लेख ही प्राप्त होते हैं, जिनमें इस प्रकार की चर्चा हो।

एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि अमृतचन्द्र की सशक्त टीकाओं के सामने उनके पूर्व में लिखी गई टीकायें टिक न सकी हों अथवा काल-कवलित हो गई हों।

१. समयसार कलश, २४४

जो भी हो, पर आचार्य कुन्दकुन्द के सशक्त टीकाकार के रूप में आज आचार्य अमृतचन्द्र ही विख्यात हैं। उनके बाद आचार्य जयसेन ने भी बहुत ही सुन्दर, सरल एवं सुबोध टीकायें लिखीं; परन्तु उन्होंने भी सर्वत्र ही आचार्य अमृतचन्द्र को आगे रखा तथा स्थान-स्थान पर उनका उल्लेख टीकाकार के नाम से बड़े ही आदर के साथ किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे परम आध्यात्मिक संत, गहन तात्त्विक चिन्तक, रससिद्ध कवि, तत्त्वज्ञानी एवं सफल टीकाकार थे। आत्मरस में निमग्न रहने वाले आचार्य अमृतचन्द्र की सभी गद्य-पद्य रचनायें अध्यात्मरस से सराबोर हैं।

वे अपने परवर्ती आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा भी बहुत ही आदर पूर्वक स्मरण किए गए हैं।

समयसार के भाषा टीकाकार पण्डित जयचंदजी छाबड़ा ने 'सुधाचन्द्र सूरि करी संस्कृत टीका वर' तथा तत्त्वार्थसार के टीकाकार ने 'अमृतेन्दु महासूरि नानानयविशारदः' कहकर अमृतचन्द्र की 'सूरि' विशेषण लगाकर तथा 'नानानयविशारदः' कहकर स्तुति की है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के टीकाकार ने इन्हें 'मुनीन्द्र' उपाधि से अलंकृत करते हुए ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है : ह

अमृतचन्द्र मुनीन्द्र कृत, ग्रन्थ श्रावकाचार।
अध्यातमरूपी महा, आर्याछन्द जु सार ॥
पुरुषार्थ की सिद्धि को, जामें परम उपाय।
जाहि सुनत भव भ्रम मिटै, आतम तत्त्व लखाय ॥^१

इसप्रकार मुनीन्द्र, आचार्य, सूरि जैसी गौरवशाली उपाधियों से उनके महान व्यक्तित्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

निश्चय में अनारूढ़ व्यवहार में विमूढ़ जगत के प्रति उनके हृदय में अपार करुणा थी। उनके चित्त में तत्त्व प्रतिपादन के अनन्त विकल्प

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय प्रशस्ति, ग्रन्थ का अंतिम भाग।

उमड़ते, उनके वशीभूत हो उनकी लेखनी चल पड़ती, वाणी फूट पड़ती; परन्तु विवेक निरंतर जागृत रहता। वाणी और लेखनी से प्रसृत परमागम में कर्तृत्वबुद्धि नहीं रहती, अपितु "मैं इनका कर्ता नहीं हूँ" हूँ ऐसा ही भाव निरन्तर जागृत रहता है। यही कारण है कि लगभग प्रत्येक कृति के अन्त में उनसे यही लिखा गया "मैं इस कृति का कर्ता नहीं हूँ। मैं तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा आतमराम हूँ।"

प्रस्तुत कृति के अन्तिम छन्द में भी यही भाव व्यक्त हुआ है, जो इसप्रकार है ह

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।

वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥^१

"अनेक प्रकार के अक्षरों से रचे गए पद, पदों से बनाये गये वाक्य हैं और उन वाक्यों से फिर यह पवित्र शास्त्र बनाया गया है, हमारे द्वारा कुछ भी नहीं किया गया है।"

आचार्य अमृतचन्द्र के कुल के सम्बन्ध में बारहवीं सदी के प्रसिद्ध विद्वान पण्डित आशाधरजी ने निम्नांकित पंक्ति में उन्हें बड़े गौरव के साथ 'ठक्कुर' नाम से अभिहित किया है ह एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृत-चन्द्रसूरिविरचितसमयसारटीकायां द्रष्टव्यम्।^२

"इसे विस्तार से ठाकुर अमृतचन्दाचार्य विरचित समयसार की टीका में देखना चाहिए।"

ठक्कुर व ठाकुर एकार्थवाची शब्द हैं, अतः प्रतीत होता है कि अमृतचन्द्राचार्य उच्च क्षत्रिय राजघराने से सम्बन्धित रहे होंगे।

कर्तृत्व :ह आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित सात ग्रन्थ उपलब्ध हैंह
१. आत्मख्याति-(समयसार टीका) २. तत्त्वप्रदीपिका-(प्रवचनसार टीका) ३. समयव्याख्या-(पंचास्तिकाय टीका) ४. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ५. परमाध्यात्मतरंगिणी-(समयसार कलश टीका) ६. लघुतत्त्वस्फोट ७. तत्त्वार्थसार।

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २२६

२. अनगार धर्मामृत, भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका, ५८८

इनमें प्रथम तीन कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्राकृत भाषा में निबद्ध “नाटकत्रय” अथवा “प्राभृतत्रय” के नाम से अभिहित किए जाने वाले समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय-इन तीन शास्त्रों के भाव को स्पष्ट करने वाली अत्यन्त गम्भीर एवं मार्मिक संस्कृत टीकायें हैं। शेष चार ग्रन्थ जो उनकी स्वतन्त्र मौलिक रचनायें हैं, उनका संक्षिप्त परिचय इसप्रकार है : ह

१. तत्त्वार्थसार :ह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समानरूप से माने जाने वाले तत्त्वार्थसूत्र को पल्लवित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार नामक ग्रन्थ की पद्यमय रचना की है। अनेक स्थलों पर तत्त्वार्थसूत्र की लीक से हटकर नवीनतम विषयवस्तु भी इसमें प्रस्तुत की गई है। इसमें आचार्य अकलंकदेव के तत्त्वार्थ राजवार्तिक का सर्वाधिक आश्रय लिया है।

२. परमाध्यात्म तरंगिणी :ह इसमें अधिकारों का वर्गीकरण भी स्वतन्त्र रूप से (मौलिक) किया गया है। विशेष जानकारी के लिए मूल ग्रन्थ देखना चाहिए।

समयसार की आत्मख्याति टीका के बीच-बीच में जो २७८ कलश आये हैं, यद्यपि वे आत्मख्याति के ही अंश हैं; तथापि उनका स्वतन्त्र संकलन भी हुआ है, जो परमाध्यात्म तरंगिणी के नाम से जाना जाता है। ये कलश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन पर शुभचन्द्र आचार्य की संस्कृत टीका एवं पाण्डे राजमल की हिन्दी टीका प्रसिद्ध है।

३. लघुतत्त्वस्फोट :ह यह कृति अभी भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण वर्ष में प्रकाश में आई है। इसके वर्ण्य विषय, भाषा-शैली आदि से यह सिद्ध हो चुका है कि यह आचार्य अमृतचन्द्र की ही कृति है। इसमें २५-२५ छन्दों के २५ अध्याय हैं। इसप्रकार इसमें कुल ६२५ छन्द हैं। इसमें आचार्य समन्तभद्र की शैली में २४ तीर्थकरों की स्तुतियों के माध्यम से जिनागम के मूल दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है।

४. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय :ह प्रस्तुत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ आचार्य अमृतचन्द्र की सर्वाधिक पढ़ी जाने वाली मौलिक रचना है। आजतक के सम्पूर्ण श्रावकाचारों में इसका स्थान सर्वोपरि है। इसकी विषय-वस्तु और प्रतिपादन शैली तो अनूठी है ही, भाषा एवं काव्य सौष्टव भी साहित्य की कसौटी पर खरा उतरता है।

अन्य किसी भी श्रावकाचार में निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान एवं हिंसा-अहिंसा का ऐसा विवेचन और अध्यात्म का ऐसा पुट देखने में नहीं आया। प्रायः सभी विषयों के प्रतिपादन में ग्रन्थकार ने अपने आध्यात्मिक चिन्तन एवं भाषा-शैली की स्पष्ट छाप छोड़ी है।

वे अपने प्रतिपाद्य विषय को सर्वत्र ही निश्चय-व्यवहार की संधि-पूर्वक स्पष्ट करते हैं। उक्त सन्दर्भ में प्रभावना अंग सम्बन्धी निम्नांकित छन्द दृष्टव्य है ह

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सततमेव ।

दान तपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥

रत्नत्रय के तेज से निरन्तर अपनी आत्मा को प्रभावित करना, साधना करना निश्चय प्रभावना है तथा दान, तप, जिनपूजा और विशेष विद्या द्वारा जिनधर्म की प्रभावना का कार्य करना व्यवहार प्रभावना है।

एक प्रकार से यह पूरा ग्रन्थ ही निश्चय-व्यवहार के समन्वय की सुगन्ध से महक उठा है।

नयविभाग के सम्यग्ज्ञान बिना आज निश्चय-व्यवहार के नाम पर समाज में जो विग्रह चल रहा है, उसके शमन का एकमात्र उपाय इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक पठन-पाठन ही है।

जिनागम के अध्ययन के लिए वे निश्चय-व्यवहार का ज्ञान आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि निश्चय-व्यवहार के ज्ञान बिना शिष्य जिनागम का रहस्य नहीं समझ सकता; अतः जिनागम के अभ्यास का अविकल फल भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। वे कहते हैं ह

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।

प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥^१

“जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय को वस्तु-स्वरूप से यथार्थ जानकर मध्यस्थ होता है, वह शिष्य ही उपदेश का अविकल फल प्राप्त करता है।”

मोक्षमार्ग में निश्चय-व्यवहार का स्थान निर्धारित करने वाली गाथा प्रस्तुत करके टीकाकार पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि हमें पहले दोनों नयों को भली प्रकार जानना चाहिए, पश्चात् उन्हें यथायोग्य अंगीकार करना चाहिए। किसी एक नय का पक्षपाती होकर हठाग्रही नहीं होना चाहिए। गाथा इस प्रकार है

जइ जिनमयं पवज्जह ता मा व्यवहारणिच्छए मुयह ।

एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥^२

“यदि तू जिनमत में प्रवर्तन करना चाहता है तो व्यवहार और निश्चय को मत छोड़। यदि निश्चय का पक्षपाती होकर व्यवहार को छोड़ेगा तो रत्नत्रय स्वरूप धर्मतीर्थ का अभाव होगा और यदि व्यवहार का पक्षपाती होकर निश्चय को छोड़ेगा तो शुद्धतत्त्व का अनुभव नहीं होगा।”

यह गाथा आचार्य अमृतचन्द्र को भी अत्यन्त प्रिय थी। उन्होंने आत्मख्याति में भी इसे उद्धृत किया है।

वे अपनी टीकाओं में सहजरूप से कोई उद्धरण देते ही नहीं हैं, तथापि इस गाथा को उन्होंने उद्धृत किया है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मोक्षमार्ग का आरम्भ करते हुए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं :ह

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।

तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥^३

“इन तीनों में सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रयत्नों से सम्यग्दर्शन की उपासना करना चाहिए, क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं।”

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द ८

२. अनगर धर्माभूतः पण्डित आशाधरजी, प्रथम अध्याय, पृष्ठ १८

३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द २१

उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिभाषायें निश्चय-व्यवहार की संधि पूर्वक दी हैं, जो इस प्रकार हैं

जीवा जीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् ।

श्रद्धानं विपरीताभिनवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥

कर्तव्योऽध्यवसायः सदनेकांतात्मकेषु तत्त्वेषु ।

संशय-विपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्योगपरिहरणात् ।

सकल-कषाय विमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥

“जीवादि पदार्थों का विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और वह निश्चय से आत्मरूप ही है।

जीवादि पदार्थों का संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित यथार्थ निर्णय सम्यग्ज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञान निश्चय से आत्मरूप ही है।

समस्त सावद्योग और सम्पूर्ण कषायों से रहित, पर पदार्थों से विरक्तरूप आत्मा की निर्मलता सम्यक्चारित्र है और वह सम्यक्चारित्र निश्चय से आत्मस्वरूप ही है।”^१

यहाँ ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि प्रत्येक परिभाषा के अन्त में ‘आत्मरूपं तत्’ पद पड़ा हुआ है, जिसका तात्पर्य है - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र तीनों ही निश्चय से आत्मरूप ही हैं, आत्मा ही हैं।

चारित्र के प्रकरण में आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा-अहिंसा का जैसा मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

हिंसा-अहिंसा की परिभाषा दर्शाते हुए वे लिखते हैं

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

यत्खलुकषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।

व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥^२

१. समयसार कलश २२, ३५, ३९

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ४४, ४३

“निश्चय से आत्मा में रागादि भावों का प्रकट न होना ही अहिंसा है और उन रागादि भावों का उत्पन्न होना ही निश्चय से हिंसा है।

कषायरूप परिणमित हुए मन, वचन, काय के योग से स्व-पर के द्रव्य व भावरूप दोनों प्रकार के प्राणों का व्यपरोपण करना-घात करना ही हिंसा है।”

जिनागम में हिंसा-अहिंसा की व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्मरूप से की गई है। सर्वत्र भावों की मुख्यता से ही हिंसा के विविधरूपों का वर्णन है।

पाँचों पापों को एवं कषायादि को हिंसा में ही सम्मिलित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥^१

“आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घातक होने से ये सब पाँचों पाप एवं कषायादि सब हिंसा ही हैं, असत्य वचनादि के भेद तो केवल शिष्य को समझाने के लिए कहे हैं।”

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा में मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति और उनके निमित्त से स्व-पर प्राण व्यपरोपण को हिंसा कहा है। झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के माध्यम से भी आत्मा में मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और स्व-पर प्राणों को पीड़ा भी पहुँचती है ह इस कारण झूठ, चोरी आदि पाप भी प्रकारान्तर से हिंसा ही हैं ह

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः ।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥^२

“यद्यपि परवस्तु के कारण सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती; तथापि परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के आयतन बाह्य परिग्रहादि एवं अन्तरंग कषायादि का त्याग कर उनसे निवृत्ति लेना उचित है।”

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द ४२

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द ४९

आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा-अहिंसा के अनेक भंगों की मीमांसा की है, जो मूलतः पठनीय है।

जैनदर्शन का मूल ‘वस्तुस्वातंत्र्य’ जैसा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में प्रतिपादित हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कार्य स्वयं में ही होता है, स्वयं से ही होता है; पर-पदार्थ तो उसमें निमित्त मात्र ही होते हैं।

निमित्त-उपादान की अपनी-अपनी मर्यादायें हैं। जीव के परिणामरूप भावकर्म एवं पुद्गल के परिणामरूप द्रव्यकर्म में परस्पर क्या सम्बन्ध है?

इस बात को वे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणामन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥
परिणाममानस्य चित्शिचदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥^१

“जीव के रागादि परिणामों का मात्र निमित्त पाकर कार्माण वर्णारूप पुद्गल स्वयं ही कर्मरूप में परिणमित होते हैं। इसीप्रकार जीव भी स्वयं ही रागादि भावरूप परिणामता है, पुद्गल कर्मों का उदय तो उसमें निमित्त मात्र ही होता है।”

उक्त दोनों ही छन्दों में यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि प्रत्येक द्रव्य का परिणाम स्वयं से ही होता है, पर पदार्थ तो उसमें मात्र निमित्त ही होता है।

“रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है और रत्नत्रय मुक्ति का ही कारण है।” ह इस तथ्य को भी इसमें बड़ी खूबी से उजागर किया गया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है, शुभभावरूप व्यवहार रत्नत्रय अर्थात् रागभाव मुक्ति का कारण नहीं है। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चय से मुक्ति के ही कारण हैं, बन्ध के कारण रंच मात्र नहीं हैं। वे साफ-साफ लिखते हैं ह

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द १२, १३

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
 येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥
 येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
 येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥
 येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
 येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥^१

“इस आत्मा के जिस अंश में सम्यग्दर्शन है, उस अंश (पर्याय) से बन्ध नहीं है तथा जिस अंश में राग है, उस अंश से बन्ध होता है ।

जिस अंश में इसके ज्ञान है, उस अंश से बन्ध नहीं है और जिस अंश में राग है, उस अंश से बन्ध होता है ।

जिस अंश में इसके चरित्र है, उस अंश से बन्ध नहीं है और जिस अंश में राग है, उस अंश से बन्ध होता है ।”

जीव के तीन प्रकार हैं ह (१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा (३) परमात्मा । बहिरात्मा के तो रत्नत्रय है ही नहीं, अतः उनके तो सर्वथा बन्ध है और परमात्मा का रत्नत्रय परिपूर्ण हो चुका है, अतः उनके बन्ध का सर्वथा अभाव है ।

बस एक अन्तरात्मा ही हैं, जिनके अंशरूप में रत्नत्रय प्रकट होता है । वे अन्तरात्मा चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक होते हैं । उनके जिस अंश में रत्नत्रय प्रकट हुआ है, उस अंश में राग का अभाव होने से कर्मबन्ध नहीं होता और जिस अंश में राग रहता है, उस अंश से कर्मबन्ध होता है ।

यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र एक विशुद्ध आध्यात्मिक सन्त पुरुष हैं और वे अपनी लेखन और काव्य प्रतिभा का पूरा उपयोग स्व-पर कल्याण में ही करना चाहते हैं । अतः उनके द्वारा साहित्यिक सौन्दर्य या काव्यकला के प्रदर्शन की कल्पना भी नहीं की जा सकती; तथापि उनमें सहज काव्य प्रतिभा होने से उनके साहित्य में स्वभावतः साहित्यिक सौन्दर्य भी आ गया है ।

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द २१२, २१३, २१४

संस्कृत भाषा पर तो आचार्य अमृतचन्द्र का असाधारण अधिकार है ही, प्राकृत भाषा के भी वे मर्मज्ञ विद्वान थे; अन्यथा आचार्य कुन्दकुन्द को कैसे पढ़समझ सकते थे? उनके समयसार, प्रवचनसार जैसे गूढ़ गम्भीर शास्त्रों का दोहन करना एवं उसे सुसंस्कृत सशक्त भाषा में ऐसी अभिव्यक्ति देना अमृतचन्द्र जैसे समर्थ आचार्य का ही काम था ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त सरल, सुबोध और प्रांजल है । जहाँ एक ओर इस ग्रन्थ में उनकी संस्कृत भाषा इतनी सरल व सहज बोधगम्य है, वहीं दूसरी ओर उनके टीका ग्रन्थों में लम्बी-लम्बी समासयुक्त पदावली भी देखी जा सकती है । आचार्य अमृतचन्द्र का गद्य-पद्य दोनों शैलियों पर समान अधिकार है । वे केवल आध्यात्मिक सन्त ही नहीं, बल्कि एक रससिद्ध कवि एवं विचारशील लेखक भी हैं ।

आपकी पद्य शैली में स्पष्टता, सुबोधता, मधुरता और भावाभिव्यक्ति की अद्भुत सामर्थ्य है । सभी पद्य प्रसादगुण संयुक्त और शांतरस से सराबोर हैं । यद्यपि यह सम्पूर्ण ग्रन्थ आर्या छन्द में है, तथापि परम - अध्यात्मतरंगिणी आदि पद्यकाव्यों में विविध प्रकार के छन्दों की इन्द्रधनुषी छटा भी दर्शनीय है ।

इसप्रकार यह ग्रन्थ भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों दृष्टियों से समृद्ध है । ऐसी विलक्षण प्रतिभा के धनी आचार्य अमृतचन्द्र की यह मौलिक एवं अनेक अभूतपूर्व विशेषताओं से समृद्ध अद्भुत कृति पुरुषार्थसिद्ध्युपाय विद्वर्ग एवं आत्मार्थी मुमुक्षुसमाज दोनों के द्वारा ही गहराई से अध्ययन करने योग्य है, नित्य स्वाध्याय करने योग्य है ।

सभी आत्मार्थीजन जिनप्रवचन के रहस्य का उद्घाटन करने वाले इस जिनप्रवचन रहस्य कोष के रहस्य को जानकर अपने आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ को जागृत कर उसके द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त करें - इस मंगल कामना के साथ विराम ।

२२ अप्रैल, १९८६ ह महावीर जयन्ती

ह रतनचन्द भारिल्ल

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
१. प्रकाशकीय	०३
२. संपादन में नवीनता	०४
३. प्रस्तावना	०५
४. विषयानुक्रमणिका	१८
५. चार पुरुषार्थों पर ज्ञानी-अज्ञानी का विचार	१९
६. मंगलाचरण	२०
७. वक्ता का लक्षण	२७
८. श्रोता का लक्षण	३१
९. ग्रंथ का प्रारम्भ	३६
१०. भूमिका	३७
११. श्रावकधर्म-व्याख्यान (१) सम्यग्दर्शन अधिकार	५१
१२. श्रावकधर्म-व्याख्यान (२) सम्यग्ज्ञान अधिकार	६६
१३. श्रावकधर्म-व्याख्यान (३) सम्यक्चारित्र अधिकार	७६
१४. अहिंसाणुव्रत	८१
१५. सत्याणुव्रत	११९
१६. अचौर्याणुव्रत	१२७
१७. ब्रह्मचर्याणुव्रत	१३२
१८. परिग्रहपरिमाणव्रत	१३५
१९. रात्रिभोजनत्याग	१५०
२०. तीन गुणव्रतों का स्वरूप	१५७
२१. चार शिक्षाव्रतों का स्वरूप	१६५
२२. सल्लेखना	१९४
२३. अतिचार का स्वरूप	२०६
२४. तप का स्वरूप	२१९
२५. मुनिधर्म का स्वरूप	२२६
२६. पं. दौलतरामजीकृत अंतिम प्रशस्ति	२७२



॥ श्री जिनाय नमः ॥

श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अपर नाम

जिनप्रवचनरहस्यकोष

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत भाषावचनिका का

हिन्दी रूपान्तर

भूमिका

मङ्गलाचरण

(दोहा)

परम पुरुष निज अर्थ को, साधि हुए गुणवृन्द ।
 आनन्दामृत-चन्द्र को, वन्दत हूँ सुखकन्द ॥१॥
 वानी बिन बैन न बने, बैन बिना बिन नैन ।
 नैन बिना ना बान बने, नमों वानि बिन बैन ॥२॥
 गुरु उर भावै आप-पर, तारक वारक पाप ।
 सुर गुरु गावै आप-पर, हारक वाच कलाप ॥३॥
 मैं नमों नगन जैन जन, ज्ञान ध्यान धन लीन ।^१
 मैं मान बिन दान धन, एन हीन तन छीन ॥४॥

१. (जैन बैन गुण जानि जिन, ज्ञान ध्यान धन लीन ।) पाठांतर

भावार्थ ह्म जो परम पुरुष निज सुखस्वरूप प्रयोजन को साधकर शुद्धगुण समूहरूप हुए, उन आनन्दामृतचन्द्र को (जिनेन्द्रदेव को) मैं जो (द्रव्यदृष्टि से) सुखकन्द हूँ, वह वन्दना करता हूँ ॥१॥

वाणी बिना वचन नहीं हो सकते हैं और वचनों बिना नयों का कथन सत्य नहीं है। नयों के कथन बिना (वस्तुस्वरूप का वर्णन करने वाली) स्याद्वादरूप वाणी नहीं बन सकती है; किन्तु हे जिनेन्द्रदेव! आपकी वाणी स्याद्वादरूप होती हुई भी निरक्षरी है। मैं उसे नमस्कार करता हूँ ॥२॥

सुरगुरु (बृहस्पति) अपने और दूसरों के मन को हरनेवाले वचनों द्वारा अपना और पर का कल्याण करनेवाले एवं पापों का नाश करनेवाले जिन गुरुओं की स्तुति करते हैं, वे गुरु मेरे हृदय में वास करें ॥३॥

मैं जिनमुद्रा धारक जैन नग्न दिगम्बर मुनि को नमस्कार करता हूँ कि जो ज्ञान-ध्यानरूपी धन स्वरूप में लीन हैं; काम, मान (घमण्ड, कर्तृत्व, ममत्व) से रहित, मेघ समान धर्मोपदेश की वृष्टि करनेवाले, पाप रहित और क्षीणकाय हैं अर्थात् कषाय और काया क्षीण हैं तथा ज्ञानस्वरूप में अत्यन्त पुष्ट हैं ॥४॥

(कवित्त सवैया-मनहरण ३१ वर्ण)

कोई नर निश्चय से आत्मा को शुद्ध मान,
भये हैं स्वच्छन्द न पिछाने निज शुद्धता।
कोई व्यवहार दान शील तप भाव ही कौ,
आतम कौ हित जानि छोड़ै नहीं मुद्धता।
कोई व्यवहारनय निश्चय के मारग कौ,
भिन्न-भिन्न जानि, पहचानि करै उद्धता।
जब जाने, निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण को उपचार माने तब बुद्धता ॥५॥

(दोहा)

श्रीगुरु परम दयालु हो, दिया सत्य उपदेश।
ज्ञानी माने जानकर, ठानत मूढ़ कलेश ॥६॥

अब ग्रन्थकर्ता श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव मंगलाचरण के निमित्त अपने इष्टदेव को स्मरण करके इस जीव का प्रयोजन सिद्ध होने में कारणभूत निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग की एकतारूप उपदेश जिसमें है, ऐसे ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं।

सूत्रावतार : ह्म (आर्या छन्द)

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥

अन्वयार्थ ह्म (यत्र) जिसमें (दर्पणतल इव) दर्पण के तल की तरह (सकला) समस्त (पदार्थमालिका) पदार्थों का समूह (समस्तैरनन्त-पर्यायैः समं) अतीत, अनागत और वर्तमान काल की समस्त अनन्त पर्यायों सहित (प्रतिफलति) प्रतिबिम्बित होता है, (तत्) वह (परं ज्योतिः) सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतनारूप प्रकाश (जयति) जयवन्त वर्तो।

टीका ह्म 'तत् परं ज्योतिः जयति' वह परम ज्योति ह्म सर्वोत्कृष्ट शुद्धचेतना का प्रकाश जयवन्त वर्तता है। वह कैसा है? 'यत्र सकला पदार्थमालिका प्रतिफलति' जिस शुद्धचेतना प्रकाश में समस्त ही जीवादि पदार्थों का समूह प्रतिबिम्बित होता है। किसप्रकार? 'समस्तैः अनन्त-पर्यायैः समं' अपने समस्त अनन्त पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होता है।

भावार्थ ह्म शुद्धचेतना प्रकाश की कोई ऐसी ही महिमा है कि उसमें जितने भी पदार्थ हैं, सभी अपने आकार सहित प्रतिभासमान होते हैं और नव पदार्थों के जितनी भूत, भविष्यत और वर्तमान पर्यायें हैं, वे सब प्रतिबिम्बित होती हैं, किसप्रकार? 'दर्पणतल इव' जिसप्रकार दर्पण के ऊपर के भाग में घट-पटादि प्रतिबिम्बित होते हैं।

यहाँ दर्पण का दृष्टान्त दिया है, उसका प्रयोजन यह जानना कि दर्पण को ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं इन पदार्थों को प्रतिबिम्बित करूँ।

जिसप्रकार लोहे की सुई लोहचुम्बक के पास स्वयं ही जाती है, वैसे ही दर्पण अपना स्वरूप छोड़कर उनको प्रतिबिम्बित करने के लिए पदार्थों के पास नहीं जाता है। पदार्थ भी अपने स्वरूप को छोड़कर उस दर्पण में प्रवेश नहीं करते।

जैसे कोई पुरुष किसी दूसरे पुरुष से कहे कि हमारा यह काम करो ही करो, वैसे वे पदार्थ अपने को प्रतिबिम्बित करवाने के लिए दर्पण से प्रार्थना भी नहीं करते।

सहज ही ऐसा सम्बन्ध है कि जैसे उन पदार्थों का आकार होता है, वैसे ही आकाररूप वे दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रतिबिम्बित होने पर दर्पण ऐसा नहीं मानता कि ये पदार्थ मेरे लिए भले हैं, उपकारी हैं, राग करने योग्य हैं अथवा बुरे हैं और द्वेष करने योग्य हैं। वह तो सभी पदार्थों के प्रति समानभाव से प्रवर्तन करता है।

जिसप्रकार दर्पण में कितने ही, घट-पटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। उसीप्रकार ज्ञानरूपी दर्पण में समस्त जीवादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। ऐसा कोई द्रव्य गुण, या पर्याय नहीं है, जो ज्ञान में न आया हो। ऐसी शुद्धचैतन्य परम ज्योति की सर्वोत्कृष्ट महिमा स्तुति करने योग्य है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यहाँ गुण का स्तवन तो किया, किन्तु किसी पदार्थ का नाम नहीं लिया, उसका कारण क्या? प्रथम पदार्थ का नाम लेना चाहिए, पश्चात् गुण का वर्णन करना चाहिए।

उसका उत्तर :- यहाँ आचार्य ने अपनी परीक्षाप्रधानता प्रकट की है। भक्त दो प्रकार के होते हैं- एक आज्ञाप्रधानी और दूसरे परीक्षाप्रधानी। जो जीव परम्परा मार्ग से चले आए जैसे तैसे देव-गुरु का उपदेश प्रमाण करके विनयादि क्रियारूप प्रवर्तन करते हैं, उन्हें आज्ञाप्रधानी कहते हैं।

जो अपने सम्यग्ज्ञान द्वारा प्रथम स्तुति करने योग्य गुण का निश्चय करते हैं, पश्चात् जिनमें वह गुण होता है, उनके प्रति विनयादि क्रियारूप प्रवर्तन करते हैं; उन्हें परीक्षाप्रधानी कहते हैं।

कोई पद, वेश अथवा स्थान पूज्य नहीं है, गुण पूज्य हैं। इसलिए यहाँ शुद्ध चेतना प्रकाशरूप गुण, स्तुति करने योग्य है ह्व ऐसा आचार्य ने निश्चय किया।

जिसमें ऐसा गुण हो, वह सहज ही स्तुति करने योग्य हुआ; कारण कि गुण द्रव्याश्रित है, द्रव्य से भिन्न नहीं ह्व ऐसे विचार पूर्वक निश्चय करे तो ऐसा गुण प्रकटरूप से अरहन्त और सिद्ध में होता है।

इसप्रकार अपने इष्टदेव का स्तवन किया।

इष्ट आगम का स्तवन करते हैं ह्व

परमागमस्य *जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥२॥

अन्वयार्थ ह्व (निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्) जन्मान्ध पुरुषों के हस्ति-विधान का निषेध करनेवाला, (सकलनयविलसितानाम्) समस्त नयों से प्रकाशित वस्तुस्वभाव का (विरोधमथनं) विरोध दूर करनेवाला (परमागमस्य) उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का (जीवं) जीवभूत (अनेकान्तम्) अनेकान्त को (एक पक्ष रहित स्याद्वाद को) मैं (अमृतचन्द्रसूरि) नमस्कार करता हूँ।

टीका ह्व 'अहम् अनेकान्तं नमामि'ह्व मैं ग्रन्थकर्ता, अनेकान्त (एक पक्ष रहित स्याद्वाद) को नमस्कार करता हूँ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि जिनागम को नमस्कार करना चाहिए था, उसके बदले स्याद्वाद को नमस्कार किया, उसका कारण क्या?

उसका उत्तर ह्व जिस स्याद्वाद को हमने नमस्कार किया, वह कैसा है? 'परमागमस्य जीवम्' उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का जीवभूत है।

जैसे शरीर, जीव सहित कार्यकारी है; जीव रहित मृतक शरीर किसी काम का नहीं; वैसे ही जैन सिद्धान्त भी वचनात्मक है, वचन क्रमवर्ती हैं। वह जो कथन करता है, वह एक नय की ही प्रधानता से होता है; परन्तु जैन सिद्धान्त सर्वत्र स्याद्वाद से व्याप्त है।

* पाठान्तर बीजं।

जहाँ एक नय की प्रधानता है, वहाँ दूसरा नय सापेक्ष है; इसलिए जैन सिद्धान्त इस जीव को कार्यकारी हैं। अन्य मत का सिद्धान्त एक पक्ष से दूषित है, स्याद्वाद रहित है; अतः कार्यकारी नहीं है। जो जैन शास्त्रों के उपदेश को भी अपने अज्ञान से स्याद्वाद रहित श्रद्धान करते हैं, उन्हें विपरीत फल मिलता है; इसलिए स्याद्वाद, परमागम का जीवभूत है; उसे नमस्कार करता हूँ।

कैसा है स्याद्वाद ? 'निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्' जन्मान्ध पुरुषों का हस्ति-विधान जिसने दूर कर दिया है, ऐसा है। जिसप्रकार अनेक जन्मान्ध पुरुष मिले, उन्होंने एक हाथी के अनेक अंग अपनी-अपनी स्पर्शनिन्द्रिय से अलग-अलग जाने। आँखों के बिना पूर्ण सर्वांग हाथी को न जानने से हाथी का स्वरूप अनेक प्रकार कहकर (एक अंग को ही सर्वांग मानकर) परस्पर वाद-विवाद करने लगे। तब आँखवाले पुरुष ने हाथी का यथार्थ निर्णय करके उनकी भिन्न-भिन्न कल्पना को दूर कर दिया।

उसीप्रकार अज्ञानी एक वस्तु के अनेक अंगों को अपनी बुद्धि से जुदे-जुदे/अन्य-अन्य रीति से निश्चय करता है। सम्यग्ज्ञान बिना सर्वांग (सम्पूर्ण) वस्तु को न जानने से एकान्तरूप वस्तु मानकर परस्पर वाद-विवाद करता है। वहाँ स्याद्वाद विद्या के बल से सम्यग्ज्ञानी यथार्थरूपेण वस्तु का निर्णय करके उसकी भिन्न-भिन्न कल्पना दूर कर देता है। उसका उदाहरण ह

जिसप्रकार सांख्यमती वस्तु को नित्य ही मानता है, बौद्धमती क्षणिक ही मानता है। स्याद्वादी कहता है कि यदि वस्तु सर्वथा नित्य ही हो तो अनेक अवस्थाओं का पलटना किसप्रकार बन सकता है? यदि वस्तु को सर्वथा क्षणिक मान लें तो "जो वस्तु पहले देखी थी, वह यही है" हूँ ऐसा प्रत्यभिज्ञान किसप्रकार हो सकता है?

अतः कथंचित् द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से क्षणिक है हूँ इस भाँति जब स्याद्वाद से सर्वांग वस्तु का निर्णय करने में आता है, तब एकान्त श्रद्धा का निषेध हो जाता है।

पुनः कैसा है स्याद्वाद? 'सकलनयविलसितानां विरोधमथनम्' समस्त नयों से प्रकाशित जो वस्तुस्वभाव, उसके विरोध को दूर करता है।

भावार्थ हूँ नय विवक्षा से वस्तु में अनेक स्वभाव हैं, अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य इत्यादि वस्तु में अनेक स्वभाव हैं और उनमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है; परन्तु विरोध है नहीं। जैसे कि अस्ति और नास्ति का प्रतिपक्षीपना है, परन्तु जब स्याद्वाद से स्थापना करें तो सर्व विरोध दूर हो जाता है।

किस प्रकार? एक ही पदार्थ कथंचित् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तिरूप है, कथंचित् परचतुष्टय की अपेक्षा से नास्तिरूप है। कथंचित् समुदाय की अपेक्षा से एकरूप है, कथंचित् गुण-पर्याय की अपेक्षा से अनेकरूप है। कथंचित् संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से गुण-पर्यायादि अनेक भेदरूप है, कथंचित् सत् की अपेक्षा से अभेदरूप है। कथंचित् द्रव्य अपेक्षा से नित्य है, कथंचित् पर्याय अपेक्षा से अनित्य है।

इसप्रकार स्याद्वाद सर्व विरोध को दूर करता है। स्यात् अर्थात् कथंचित् नय अपेक्षा से, वाद अर्थात् वस्तुस्वभाव का कथन, इसे स्याद्वाद कहते हैं। इसी को नमस्कार किया है।

आचार्य ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा करते हैं हूँ

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।

अस्माभिरुपोद्ध्ययते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥३॥

अन्वयार्थ हूँ (लोकत्रयैकनेत्रं) तीन लोक सम्बन्धी पदार्थों को प्रकाशित करने में अद्वितीय नेत्र (परमागमं) उत्कृष्ट जैनागम को (प्रयत्नेन) अनेक प्रकार के उपायों से (निरूप्य) जानकर अर्थात् परम्परा जैन सिद्धान्तों के निरूपण पूर्वक (अस्माभिः) हमारे द्वारा (विदुषां) विद्वानों के लिए (अयं) यह (पुरुषार्थसिद्ध्युपायः) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ (उपोद्ध्ययते) उद्धार करने में आता है।

टीका ह 'अस्माभिः विदुषां अयं पुरुषार्थसिद्ध्युपायः उपोद्ध्ययते' में ग्रन्थकर्ता ज्ञानी जीवों के लिए यह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ अथवा चैतन्य पुरुष के प्रयोजन सिद्ध करने का उपाय प्रकट करता हूँ। 'किं कृत्वा' क्या करके? 'प्रयत्नेन' अनेक प्रकार से उद्यम करके सावधानी पूर्वक 'परमागमं निरूप्य' परम्परा से जैन सिद्धान्त का विचार करके।

जिसप्रकार केवली, श्रुतकेवली और आचार्यों के उपदेश की परम्परा है, उसका विचार करके मैं उपदेश देता हूँ; स्वमति से कल्पित रचना नहीं करता हूँ। कैसा है परमागम? 'लोकत्रयैकनेत्रं' तीन लोकों में त्रिलोक सम्बन्धी पदार्थों को बताने के लिए अद्वितीय नेत्र है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में वक्ता, श्रोता और ग्रन्थ का वर्णन करना चाहिए - ऐसी परम्परा है।

इसलिए प्रथम ही वक्ता का लक्षण कहते हैं ह

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।

व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥४॥

अन्वयार्थ ह (मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः) मुख्य और उपचार कथन के विवेचन से प्रकटरूपेण शिष्यों का दुर्निवार अज्ञानभाव जिन्होंने नष्ट कर दिया है तथा (व्यवहारनिश्चयज्ञाः) जो व्यवहारनय और निश्चयनय के ज्ञाता हैं, ऐसे आचार्य (जगति) जगत में (तीर्थ) धर्मतीर्थ का (प्रवर्तयन्ते) प्रवर्तन कराते हैं।

टीका ह 'व्यवहारनिश्चयज्ञाः जगति तीर्थं प्रवर्तयन्ते' व्यवहार और निश्चय के जाननेवाले आचार्य इस लोक में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कराते हैं। कैसे हैं आचार्य? 'मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः' मुख्य और उपचार कथन से शिष्य के अपार अज्ञानभाव को जिन्होंने नाश किया है, ऐसे हैं।

भावार्थ ह उपदेशदाता आचार्य में अनेक गुण चाहिए, परन्तु व्यवहार और निश्चय का ज्ञान मुख्यरूप से चाहिए। किसलिए? जीवों को अनादि से अज्ञानभाव है, वह मुख्य (निश्चय) कथन और उपचार (व्यवहार) कथन को जानने से दूर होता है।

वहाँ मुख्य कथन तो निश्चय नय के आधीन है, उपचार कथन व्यवहार नय के आधीन है। वही बताते हैं - 'स्वाश्रितो निश्चयः' जो अपने ही आश्रय से हो, उसको निश्चय कहते हैं।

जिस द्रव्य के अस्तित्व में जो भाव पाये जायें, उस द्रव्य में उनका ही स्थापन करना तथा परमाणुमात्र भी अन्य कल्पना न करने का नाम स्वाश्रित है। उसका जो कथन है, उसी को मुख्य कथन कहते हैं।

इसको जानने से अनादि शरीरादि परद्रव्य में एकत्व श्रद्धानरूप अज्ञानभाव का अभाव होता है, भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है, सर्व परद्रव्य से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव होता है। वहाँ परमानन्द दशा में मग्न होकर केवल दशा को प्राप्त होता है।

जो अज्ञानी इसको जाने बिना धर्म में प्रवृत्ति करते हैं, वे शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को उपादेय जानकर संसार का कारण जो शुभोपयोग, उसे ही मुक्ति का कारण मानकर स्वरूप से भ्रष्ट होते हुए संसार में भ्रमण करते हैं। इसलिए मुख्य (निश्चय) कथन का ज्ञान अवश्य होना चाहिए और वह निश्चयनय के आधीन है, इसलिए उपदेशदाता निश्चयनय का ज्ञाता होना चाहिए; कारण कि स्वयं ही न जाने तो शिष्यों को कैसे समझा सकता है?

तथा 'पराश्रितो व्यवहारः' जो परद्रव्य के आश्रित हो, उसे व्यवहार कहते हैं। किंचित् मात्र कारण पाकर अन्य द्रव्य का भाव अन्य द्रव्य में स्थापन करे, उसे पराश्रित कहते हैं। उसी के कथन को उपचार कथन कहते हैं। इसे जानकर शरीरादि के साथ सम्बन्धरूप संसार दशा है, उसका ज्ञान करके संसार के कारण जो आस्रव-बन्ध हैं, उन्हें पहिचान कर मुक्त होने के उपाय जो संवर-निर्जरा हैं, उनमें प्रवर्तन करे।

अज्ञानी इन्हें जाने बिना शुद्धोपयोगी होने की इच्छा करता है। वह पहले ही व्यवहार साधन को छोड़कर पापाचरण में लीन होकर नरकादिक के दुःख संकटों में जा गिरता है। इसलिए उपचार कथन का भी ज्ञान होना चाहिए और वह व्यवहारनय के अधीन है।

अतः उपदेशदाता को व्यवहार का भी ज्ञान होना आवश्यक है। इस भाँति दोनों नयों के ज्ञाता आचार्य धर्मतीर्थ के प्रवर्तक होते हैं, अन्य नहीं।

आचार्य दोनों नयों का उपदेश किस प्रकार करते हैं ह
निश्चयमिह भूतार्थ व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।

भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५॥

अन्वयार्थ ह (इह) इस ग्रन्थ में (निश्चयं) निश्चयनय को (भूतार्थं) भूतार्थ और (व्यवहारं) व्यवहारनय को (अभूतार्थं) अभूतार्थ (वर्णयन्ति) वर्णन करते हैं। (प्रायः) प्रायः (भूतार्थबोधविमुखः) भूतार्थ अर्थात् निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय है, वह (सर्वोऽपि) समस्त ही (संसार) संसारस्वरूप है।

टीका ह 'इह निश्चयं भूतार्थ व्यवहारम् अभूतार्थ वर्णयन्ति' - आचार्य इन दोनों नयों में निश्चयनय को भूतार्थ कहते हैं और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते हैं।

भावार्थ ह भूतार्थ नाम सत्यार्थ का है। भूत अर्थात् जो पदार्थ में पाया जावे और अर्थ अर्थात् 'भाव'। उनको जो प्रकाशित करे तथा अन्य किसी प्रकार की कल्पना न करे, उसे भूतार्थ कहते हैं।

जिसप्रकार कि सत्यवादी सत्य ही कहता है, कल्पना करके कुछ भी नहीं कहता; वही यहाँ बताया जाता है।

यद्यपि जीव और पुद्गल को अनादि काल से एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और दोनों मिले हुए जैसे दिखाई पड़ते हैं तो भी निश्चयनय आत्मद्रव्य को शरीरादिक परद्रव्यों से भिन्न ही प्रकाशित करता है। यही भिन्नता मुक्तदशा में प्रकट होती है, इसलिए निश्चयनय सत्यार्थ है।

अभूतार्थ नाम असत्यार्थ का है। अभूत अर्थात् जो पदार्थ में न पाया जाये और अर्थ अर्थात् भाव, उनको जो अनेक प्रकार की कल्पना करके प्रकाशित करे, उसे अभूतार्थ कहते हैं।

जैसे कोई असत्यवादी पुरुष जरा से भी कारण का बहाना - छल पाकर अनेक कल्पना कर असदृश को भी सदृश कर दिखाता है। उसी को बताते हैं ह जैसे यद्यपि जीव और पुद्गल की सत्ता भिन्न है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न है; तथापि एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध का छल (बहाना) पाकर आत्मद्रव्य को शरीरादिक परद्रव्य से एकत्वरूप कहता है। मुक्तदशा में प्रकट भिन्नता होती है, तब व्यवहारनय स्वयं ही भिन्न-भिन्न प्रकाशित करने को तैयार होता है; अतः व्यवहारनय असत्यार्थ है।

'प्रायः भूतार्थबोधविमुखः सर्वः अपि संसारः' अतिशयपने सत्यार्थ जो निश्चयनय है, उसके परिज्ञान से विपरीत जो परिणाम (अभिप्राय) है, वह समस्त संसार स्वरूप है।

इस आत्मा का परिणाम निश्चयनय के श्रद्धान से विमुख होकर शरीरादिक परद्रव्यों के साथ एकत्व श्रद्धानरूप होकर प्रवर्तन करे उसी का नाम संसार है, इससे जुदा संसार नाम का कोई पदार्थ नहीं है। इसलिए जो जीव संसार से मुक्त होने के इच्छुक हैं, उन्हें शुद्धनय के *सन्मुख रहना योग्य है। इसी को उदाहरण देकर समझाते हैं ह

जिसप्रकार अनेक पुरुष कीचड़ के संयोग से जिसकी निर्मलता आच्छादित हो गई है, ऐसे गंदे जल को ही पीते हैं और कोई अपने हाथ से कतकफल (निर्मली) डालकर कीचड़ और जल को अलग-अलग करते हैं। वहाँ निर्मल जल का स्वभाव ऐसा प्रकट होता है, जिसमें अपना पुरुषाकार प्रतिभासित होता है, उसी निर्मल जल का वे आस्वादन करते हैं।

* शुद्धनय के विषयभूत त्रैकालिक पूर्णरूप अपने निश्चय परमात्मा के सम्मुख।

उसीप्रकार बहुत से अज्ञानी जीव कर्म के संयोग से जिसका ज्ञानस्वभाव ढक गया है, ऐसे अशुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं।

जब कोई जीव अपनी बुद्धि से शुद्धनिश्चयनय के स्वरूप को जानकर कर्म और आत्मा को भिन्न-भिन्न करते हैं, तब निर्मल आत्मा का स्वभाव ऐसा प्रकट होता है, जिसमें अपने चैतन्य पुरुष का आकार प्रतिभासित हो जाता है ह्व इसप्रकार वे निर्मल आत्मा का स्वानुभवरूप आस्वादन करते हैं। अतः शुद्धनय कतकफल के समान है, उसी के साधन से (श्रद्धान से) सर्व सिद्धि होती है।

आगे कहते हैं कि यदि एक निश्चयनय के श्रद्धान से ही सर्व सिद्धि होती है तो फिर आचार्य व्यवहारनय का उपदेश क्यों करते हैं? उसका उत्तर इस गाथा में कहा है।

जो श्रोता गाथा में कथित अर्थ के उदपेश को अंगीकार करने योग्य नहीं है, उसका कथन करते हैं ह्व

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम् ।

व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥६॥

अन्वयार्थं ह्व (मुनीश्वराः) ग्रन्थकर्ता आचार्य (अबुधस्य) अज्ञानी जीवों को (बोधनार्थं) ज्ञान उत्पन्न करने के लिए (अभूतार्थं) व्यवहारनय का (देशयन्ति) उपदेश करते हैं और (यः) जो जीव (केवलं) केवल (व्यवहारम् एव) व्यवहारनय को ही (अवैति) जानता है (तस्य) उसको - उस मिथ्यादृष्टि जीव के लिए (देशना) उपदेश (नास्ति) नहीं है।

टीका ह्व 'मुनीश्वराः अबुधस्य बोधनार्थं अभूतार्थं देशयन्ति' ह्व मुनीश्वर अर्थात् आचार्य अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न करने के लिए अभूतार्थ ऐसा जो व्यवहारनय, उसका उपदेश करते हैं।

अनादि का अज्ञानी जीव व्यवहारनय के उपदेश बिना समझ नहीं सकता। इसलिए आचार्य महाराज व्यवहारनय के द्वारा उसको समझाते हैं, वही यहाँ बता रहे हैं।

जैसे किसी म्लेच्छ को एक ब्राह्मण ने 'स्वस्ति' शब्द कहकर आशीर्वाद दिया तो उसे उसके अर्थ का कुछ बोध नहीं हुआ और वह ब्राह्मण की तरफ ताकता रहा। वहाँ एक दुभाषिया उससे म्लेच्छ भाषा में बोला कि यह ब्राह्मण कहता है कि 'तेरा कल्याण हो,' तब आनंदित होकर उस म्लेच्छ ने आशीर्वाद अंगीकार किया।

ठीक इसीप्रकार आचार्य ने अज्ञानी जीव को 'आत्मा' शब्द कहकर उपदेश दिया, तब वह कुछ नहीं समझा और आचार्य की तरफ देखता रह गया। तब निश्चय और व्यवहारनय के ज्ञाता आचार्य ने व्यवहारनय के द्वारा भेद उत्पन्न करके (गुण-गुणी आदि भेद-विवक्षा द्वारा) उसे बताया कि जो यह देखनेवाला, जाननेवाला और आचरण करनेवाला पदार्थ है, वही आत्मा है, तब सहज परमानन्द दशा को प्राप्त होकर वह आत्मा को निजस्वरूप से अंगीकार करता है। इसप्रकार यह सद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण दिया।

आगे असद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण देते हैं। जैसे घी से संयुक्त मिट्टी के घड़े को व्यवहार से घी का घड़ा कहते हैं। यहाँ कोई पुरुष जन्म से ही उसको घी का घड़ा जानता है। जब कोई पुरुष घी का घड़ा कहकर उसे समझाता है, तभी वह समझता है और यदि उससे मिट्टी का घड़ा कहकर संबोधन किया जाये तो वह किसी दूसरे कोरे (खाली) घड़े को समझ बैठता है, घी के घड़े को नहीं।

निश्चय से विचार किया जाये तो घड़ा मिट्टी का ही है; परन्तु उसको समझाने के लिए 'घृत का घड़ा' कहकर ही संबोधित करना पड़ता है।

उसीप्रकार यह चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मजनित पर्याय से संयुक्त है, उसे व्यवहारनय से देव, मनुष्य इत्यादि नाम से कहते हैं।

अज्ञानी जीव अनादि से उस आत्मा को देव, मनुष्य इत्यादि स्वरूप ही जानता है। जब कोई उसे देव, मनुष्य वगैरह नाम से संबोधित करके समझाये, तभी समझ पाता है और यदि आत्मा का नाम चैतन्यस्वरूप कहे तो अन्य किसी परमब्रह्म परमेश्वर को समझ बैठता है।

निश्चय से विचार करें तो आत्मा चैतन्यस्वरूप ही है; परन्तु अज्ञानी को समझाने के लिए आचार्यदेव, गति-जाति आदि के भेद द्वारा जीव का निरूपण करते हैं।

इसतरह अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न कराने के लिए आचार्य महाराज व्यवहार का उपदेश करते हैं। 'केवलं व्यवहारम् एव अवैति यः तस्य देशना नास्ति' जो जीव केवल व्यवहार ही का श्रद्धान करता है, उसके लिए उपदेश नहीं है।

निश्चयनय के श्रद्धान बिना केवल व्यवहार मार्ग में ही प्रवर्तन करनेवाले मिथ्यादृष्टियों के लिए उपदेश देना निष्फल है।

केवल व्यवहारनय के श्रद्धान होने का कारण बताते हैं ह

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।

व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

अन्वयार्थ ह (यथा) जिसप्रकार (अनवगीतसिंहस्य) सिंह को सर्वथा न जानने वाले पुरुष के लिए (माणवकः) बिलाव (एव) ही (सिंह) सिंहरूप (भवति) होता है, (हि) निश्चय से (तथा) उसी प्रकार (अनिश्चयज्ञस्य) निश्चयनय के स्वरूप से अपरिचित पुरुष के लिए (व्यवहारः) व्यवहार (एव) ही (निश्चयतां) निश्चयनय को (याति) प्राप्त होता है।

टीका ह 'यथा हि अनवगीतसिंहस्य माणवक एव सिंहः भवति' ह जिसप्रकार निश्चय से (वास्तव में) जिसने सिंह को नहीं जाना है, उसके लिए बिलाव ही सिंहरूप होता है तथा 'अनिश्चयज्ञस्य व्यवहारः एव निश्चयतां याति' उसीप्रकार जिसने निश्चय का स्वरूप नहीं जाना है, उसको व्यवहार ही निश्चयरूप हो जाता है अर्थात् व्यवहार को ही निश्चय मान बैठता है।

भावार्थ ह जिसप्रकार बालक सिंह को न पहिचानता हुआ बिलाव को ही सिंह मान लेता है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव निश्चय के स्वरूप

को न पहिचानता हुआ व्यवहार को ही निश्चय मान लेता है। उसका स्पष्टीकरण करते हैं ह जो जीव अपने शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप मोक्षमार्ग को नहीं पहिचानता, वह जीव व्यवहारदर्शन-ज्ञान-चारित्र का साधन करके अपने को मोक्ष का अधिकारी मानता है।

अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, दयाधर्म का श्रद्धान करके अपने आपको सम्यग्दृष्टि मानता है और किंचित् जिनवाणी को जानकर अपने को ज्ञानी मानता है, महाव्रतादि क्रिया का साधन करके अपने को चारित्रवान मानता है।

इसप्रकार वह शुभोपयोग में संतुष्ट होकर शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग में प्रमादी है, इसलिए केवल व्यवहारनय का अवलम्बी हुआ है; अतः उसे उपदेश देना निष्फल है।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा श्रोता भी उपदेश के योग्य नहीं है तो फिर कैसे गुण संयुक्त श्रोता होना चाहिए ? इसका उत्तर देते हैं ह

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।

प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥८॥

अन्वयार्थ ह (यः) जो जीव (व्यवहारनिश्चयौ) व्यवहारनय और निश्चयनय को (तत्त्वेन) वस्तुस्वरूप से (प्रबुध्य) यथार्थरूप से जानकर (मध्यस्थः) मध्यस्थ (भवति) होता है अर्थात् निश्चयनय और व्यवहारनय के पक्षपात से रहित होता है (सः) वह (एव) ही (शिष्यः) शिष्य (देशनायाः) उपदेश का (अविकलं) सम्पूर्ण (फलं) फल (प्राप्नोति) प्राप्त करता है।

टीका ह 'यः व्यवहारनिश्चयौ तत्त्वेन प्रबुध्य मध्यस्थः भवति' ह जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय के स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर पक्षपात रहित होता है 'स एव शिष्यः देशनायाः अविकलं फलं प्राप्नोति' वही शिष्य उपदेश का सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है।

भावार्थ ह् श्रोता में अनेक गुण होने चाहिए: परन्तु व्यवहार और निश्चय को जानकर एक पक्ष का हठाग्रहीरूप न होने का गुण मुख्य रूप से होना चाहिए। कहा भी है ह्

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा व्यवहार णिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥

(पण्डित प्रवर आशाधरजी कृत अनगार धर्माभूत, प्र. अ. पृष्ठ १८)

अर्थ ह् यदि तू जिनमत में प्रवर्तन करना चाहता है तो व्यवहार और निश्चय को मत छोड़। यदि निश्चय का पक्षपाती होकर व्यवहार को छोड़ेगा तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थ का अभाव होगा और यदि व्यवहार का पक्षपाती होकर निश्चय को छोड़ेगा तो शुद्ध तत्त्वस्वरूप का अभाव होगा। अतः पहले व्यवहार-निश्चय को भले प्रकार जानकर पश्चात् यथायोग्य इनका अंगीकार करना, पक्षपात न करना - यही उत्तम श्रोता का लक्षण है।

प्रश्न ह् जो निश्चय व्यवहार को जाननेरूप गुण वक्ता के बतलाये थे, वे ही श्रोता के भी बतला दिये तो इसमें विशेषता क्या हुई ?

उत्तर ह् जो गुण आधिक्यरूप से वक्ता में हो, वही गुण-हीनतारूप से थोड़े अंशों में श्रोता में भी होना चाहिए।

इसप्रकार वक्ता और श्रोता का वर्णन किया है।



ग्रन्थ प्रारम्भ

अब ग्रन्थ का वर्णन करते हैं। इस ग्रन्थ में पुरुष के अर्थ की सिद्धि का उपाय बतायेंगे।

प्रथम ही पुरुष का स्वरूप कहते हैं ह्

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शरसगन्धवर्णैः ।

गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥१॥

अन्वयार्थ ह् (पुरुषः) पुरुष अर्थात् आत्मा (चिदात्मा) चेतनास्वरूप (अस्ति) है (स्पर्शरसगन्धवर्णैः) स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से (विवर्जितः) रहित है (गुणपर्ययसमवेतः) गुण और पर्याय सहित है तथा (समुदयव्ययध्रौव्यैः) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (समाहितः) युक्त है।

टीका ह् 'पुरुषः चिदात्मा अस्ति' ह् पुरुष है, वह चैतन्यस्वरूप है। (पुरु) उत्तम चेतना गुण में (सेते) स्वामी होकर प्रवर्तन करे उसको पुरुष कहते हैं। ज्ञान-दर्शनह्चेतना के नाथ को पुरुष कहते हैं।

यही चेतना अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव - इन तीनों दोषों से रहित इस आत्मा का असाधारण लक्षण है। अव्याप्ति दोष उसे कहते हैं कि जिसका लक्षण कहा गया हो, वह उसके किसी लक्ष्य में हो और किसी लक्ष्य में न हो; परन्तु कोई आत्मा चेतना रहित नहीं है। यदि आत्मा का लक्षण रागादि कहें तो अव्याप्ति दूषण लगता है; क्योंकि रागादिक संसारी जीवों में हैं; (परन्तु) सिद्ध जीवों में नहीं हैं।

जो लक्षण लक्ष्य में हो और अलक्ष्य में भी हो, उसे अतिव्याप्ति दूषण कहते हैं; परन्तु चेतना, जीव पदार्थ के अलावा किसी अन्य पदार्थ में नहीं पाई जाती। यदि आत्मा का लक्षण अमूर्त कहें तो अतिव्याप्ति दूषण लगता है; कारण कि जिसतरह आत्मा अमूर्तिक है, उसीतरह धर्म, अधर्म, आकाश और काल भी अमूर्तिक हैं।

तथा जो प्रमाण में न आये, उसे असम्भव कहते हैं। चेतना, जीव पदार्थ प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से जानी जाती है। यदि आत्मा का लक्षण जड़पना कहे तो असम्भव दोष लगता है; कारण कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है।

इसप्रकार तीन दोष रहित आत्मा का चेतना लक्षण है, जो दो प्रकार की है हू एक ज्ञान चेतना और दूसरा दर्शन चेतना। जो पदार्थों को साकाररूप विशेषता से जाने, उसे ज्ञान चेतना कहते हैं। जो पदार्थों को निराकाररूप सामान्यता से देखे, उसे दर्शन चेतना कहते हैं।

यही चेतना परिणामों की अपेक्षा से तीन प्रकार की है। जब यह चेतना शुद्ध ज्ञानस्वभावरूप से परिणमन करती है, तब ज्ञान चेतना, जब रागादि कार्यरूप से परिणमन करती है, तब कर्म चेतना और जब हर्ष-शोकादि वेदनरूप कर्म में फलरूप परिणमन करती है, तब कर्मफल चेतना कही जाती है।

इसप्रकार चेतना अनेक स्वांग करती है, फिर भी चेतना का अभाव कभी नहीं होता। इस भाँति चेतना लक्षण से विराजमान जीव नामक पदार्थ को पुरुष कहते हैं।

पुनः कैसा है पुरुष? 'स्पर्शरसगन्धवर्णैः विवर्जितः' स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से रहित है। आठ प्रकार के स्पर्श, पाँच प्रकार का रस, दो प्रकार का गन्ध और पाँच प्रकार का वर्ण हू ऐसे जो पुद्गलों के लक्षण हैं, उनसे रहित अमूर्तिक है। इस विशेषण से पुद्गल द्रव्य से भिन्नता प्रकट की, कारण कि यह आत्मा अनादिकाल से सम्बन्धरूप जो पुद्गल द्रव्य है, उसमें अहंकार-ममकाररूप प्रवर्तन करता है। जीव अपने चैतन्यपुरुष को अमूर्तिक जाने तो द्रव्यकर्म, नोकर्म, धन-धान्यादि पुद्गल द्रव्य में अहंकार-ममकार न करे।

पुनः कैसा है पुरुष? 'गुणपर्ययसमवेतः' गुण-पर्यायों से तदात्मक है अर्थात् द्रव्य है, वह गुण-पर्यायमय है, अतः आत्मा भी गुण-पर्यायों सहित विराजमान है।

भावार्थ हू वहाँ गुण का लक्षण सहभूत है। सह अर्थात् द्रव्य के साथ, भू अर्थात् सत्ता। द्रव्य में जो सदाकाल पाया जावे, उसे गुण कहते हैं। आत्मा में गुण दो प्रकार के हैं हू ज्ञान-दर्शनादि 'असाधारण गुण' हैं, वे अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि 'साधारण गुण' हैं, जो अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं।

पर्याय का लक्षण क्रमवर्ती है, जो द्रव्य में अनुक्रम से उत्पन्न हो, कदाचित् कई बार हो, उसे पर्याय कहते हैं। आत्मा में पर्याय दो प्रकार की है। जो नर-नारकादि आकाररूप अथवा सिद्ध के आकाररूप पर्याय है, उसे 'व्यंजनपर्याय' कहते हैं।

ज्ञानादि गुणों का भी स्वभाव अथवा विभावरूप परिणमन है, वह छह प्रकार से हानि-वृद्धि रूप है, उसे 'अर्थपर्याय' कहते हैं। इन गुण-पर्यायों से आत्मा की तदात्मक एकता है। इस विशेषण से आत्मा का विशेष्य जाना जा सकता है।

पुनः कैसा है पुरुष? 'समुदयव्ययध्रौव्यैः समाहितः' उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से संयुक्त है। नवीन अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय का उत्पन्न होना, वह 'उत्पाद', पूर्व पर्याय का नाश होना, वह 'व्यय' और गुण अपेक्षा अथवा द्रव्य अपेक्षा से शाश्वत रहना, वह 'ध्रौव्य' है।

जिसप्रकार सोना कुण्डल पर्याय से उत्पन्न होता है, कंकण पर्याय से नष्ट होता है तथा पीतादिक की अपेक्षा अथवा स्वर्णत्व की अपेक्षा सभी अवस्थाओं में शाश्वत है। इस विशेषण से आत्मा का अस्तित्व प्रकट किया।

प्रश्न :हू ऐसे चैतन्य पुरुष के अशुद्धता किसप्रकार से हुई, जिसके कारण इसे अपने अर्थ की सिद्धि करनी पड़े? इसका उत्तर कहते हैं हू

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या।

परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥

अन्वयार्थ ह (सः) वह चैतन्य आत्मा (अनादिसन्तत्या) अनादि की परिपाटी से (नित्यं) निरन्तर (ज्ञानविवर्तैः) ज्ञानादि गुणों के विकाररूप रागादि परिणामों से (परिणममानः) परिणमन करता हुआ (स्वेषां) अपने (परिणामानां) रागादि परिणामों का (कर्त्ता च भोक्ता च) कर्त्ता और भोक्ता भी (भवति) होता है।

टीका ह 'अनादिसन्तत्या नित्यं ज्ञानविवर्तैः परिणममानः स्वेषां परिणामानां कर्त्ता च भोक्ता च भवति' ह वह चैतन्य पुरुष अनादि की परिपाटी से सदा ज्ञान-चारित्र रहित जो रागादिक परिणाम, उन रूप परिणमन करता हुआ उन स्वयं के रागादि परिणामों का कर्त्ता तथा भोक्ता भी है।

भावार्थ ह इस आत्मा के अशुद्धता नई उत्पन्न नहीं हुई है। अनादि काल से सन्तानरूप से द्रव्यकर्म से रागादि होते हैं, फिर उन्हीं रागादि से द्रव्यकर्म का बन्ध होता है। स्वर्ण की टिकावत् अनादि से सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध के कारण इस जीव को अपने ज्ञान स्वभाव का बोध नहीं है। इसलिए उदयागत कर्म से पर्याय में इष्ट-अनिष्ट भाव से राग, द्वेष, मोहरूप परिणमन कर रहा है।

यद्यपि इन परिणामों के होने में द्रव्यकर्म कारण है; तथापि यह परिणाम चेतनामय है। इसलिए इन परिणामों का व्याप्य-व्यापक भाव से आत्मा ही कर्त्ता है और भाव्य-भावक भाव से आत्मा ही भोक्ता है।

अब व्याप्य-व्यापकभाव का स्वरूप कहते हैं। जो नियम से सहचारी हो, उसे व्याप्य कहते हैं। जिसप्रकार धुआँ और अग्नि में साहचर्य है अर्थात् जहाँ धुआँ होता है, वहाँ अग्नि होती है। अग्नि के बिना धुआँ नहीं होता। उसीप्रकार रागादिभाव और आत्मा में सहचारीपना है।

जहाँ रागादि होते हैं, वहाँ आत्मा होता ही है, आत्मा के बिना रागादि नहीं होते। इस व्याप्ति क्रिया में जो कर्म है, उसे व्याप्य कहते हैं और आत्मा कर्त्ता है, उसे व्यापक कहते हैं; क्योंकि रागादि आत्मा के करने से होते हैं, अतः (उन्हें) व्याप्य कहते हैं।

इसप्रकार जहाँ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध हो, वहीं कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध सम्भव है, अन्य स्थान में सम्भव नहीं।

इसीप्रकार जो-जो भाव अनुभवन करने योग्य हों, उन्हें भाव्य तथा अनुभव करनेवाले पदार्थ को भावक कहते हैं। ऐसा भाव्य-भावक सम्बन्ध जहाँ हो, वहीं भोक्ता-भोग्य सम्बन्ध सम्भवित है, अन्य स्थान पर नहीं।

इसप्रकार इस अशुद्ध आत्मा के अर्थ-सिद्धि कब होती है और अर्थ-सिद्धि किसे कहते हैं? वह बतलाते हैं : ह

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।

भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥११॥

अन्वयार्थ ह (यदा) जब (सः) उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा (सर्वविवर्त्तो-त्तीर्णं) सर्व विभावों से पार होकर (अचलं) अपने निष्कम्प (चैतन्यं) चैतन्यस्वरूप को (आप्नोति) प्राप्त होता है। (तदा) तब यह आत्मा उस (सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिम्) सम्यक् प्रकार से पुरुषार्थ के प्रयोजन की सिद्धि को (आपन्नः) प्राप्त होता हुआ (कृतकृत्यः) कृतकृत्य (भवति) होता है।

टीका ह 'स यदा सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं चैतन्यमचलमाप्नोति तदा कृतकृत्यः भवति।' ह रागादि भावों से लिप्त वही आत्मा सर्व विभावों से पार होकर अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को निःशंकतापूर्वक प्राप्त होता है, तब कृतकृत्य होता है। कैसा है यह आत्मा? 'सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः' सम्यक्प्रकार से पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त हुआ है।

भावार्थ ह जब यह आत्मा स्व-पर भेदविज्ञान से शरीरादिक परद्रव्य को भिन्न जाने, तब "यह भलाह इष्ट, यह बुराह अनिष्ट" - ऐसी बुद्धि का त्याग कर देता है; कारण कि जो कुछ भी भला-बुरा होता है, वह सब अपने परिणामों से ही होता है; पर द्रव्य के करने से भला-बुरा नहीं होता है। इसलिए सर्व परद्रव्यों में राग-द्वेष भावों का त्याग कर देता है।

जो अवशता से (पुरुषार्थ की निर्बलता से) रागादि उत्पन्न होते हैं, उनके नाश के लिए अनुभव-अभ्यास में उद्यमशील रहता है। ऐसा

करते-करते जब सर्व विभावभावों का नाश हो जाता है और अक्षुब्ध समुद्रवत् शुद्धात्मस्वरूप में लवणवत् परिणाम लीन हो जाता है, ध्याता-ध्येय का विकल्प भी नहीं रहता, ऐसा भी नहीं जानता कि 'मैं शुद्धात्मस्वरूप का ध्यान कर रहा हूँ,' स्वयं ही तादात्म्यवृत्ति से शुद्धात्मस्वरूप होकर निष्कम्प परिणामन करता है, उस समय इस आत्मा को जो कुछ करना था, वह कर लिया; अब कुछ करना शेष नहीं रहा, इसलिए इसको कृतकृत्य कहते हैं।

इसी अवस्था को पुरुषार्थ की सिद्धि कहते हैं। पुरुष का जो अर्थ अर्थात् प्रयोजनरूप कार्य उसकी सिद्धि जो होनी थी, वह हो गई। इस अवस्था को जो प्राप्त हुआ, उस आत्मा को कृतकृत्य कहते हैं।

पुरुषार्थसिद्धि का उपाय कहना चाहते हैं, वहाँ प्रथम ही पर द्रव्य के सम्बन्ध का कारण कहते हैं, जिसके जानने पर क्या उपाय करना होता है, वह कहते हैं ह

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।

स्वयमेव परिणामन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

अन्वयार्थ ह (जीवकृतं) जीव के किये हुए (परिणामं) रागादि परिणामों का (निमित्तमात्रं) निमित्तमात्र (प्रपद्य) पाकर (पुनः) फिर (अन्ये पुद्गलाः) जीव से भिन्न अन्य पुद्गल स्कन्ध (अत्र) यहाँ (आत्मा में)(स्वयमेव) अपने आप ही (कर्मभावेन) ज्ञानावरणादि कर्मरूप (परिणामन्ते) परिणामन कर जाते हैं।

टीका ह 'जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनः अन्ये पुद्गलाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणामन्ते'ह जीव के किये हुए रागादि परिणामों का निमित्त मात्र पाकर नवीन अन्य पुद्गल स्कन्ध स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप होकर परिणामन करते हैं।

भावार्थ ह जब जीव राग-द्वेष-मोहभाव से परिणामन करता है, तब उन भावों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्मरूप अवस्था को धारण करता है।

विशेष इतना है कि यदि आत्मा देव-गुरु-धर्मादिक प्रशस्त रागरूप परिणामन करे तो शुभकर्म का बन्ध होता है। (और इसके विपरीत अप्रशस्त राग-द्वेष-मोहरूप परिणामन करे तो अशुभ कर्म का बन्ध होता है।)

प्रश्न ह जीव के भाव अति सूक्ष्म हैं, उनका ज्ञान जड़ कर्म को कैसे होता है और ज्ञान हुए बिना पुण्य-पापरूप होकर कैसे परिणामन करते हैं?

उत्तर ह जिसप्रकार मन्त्रसाधक पुरुष बैठा-बैठा गुप्तरूप से मन्त्र जपता है और उसके किये बिना ही उस मन्त्र के निमित्त से किसी को पीड़ा उत्पन्न होती है, किसी का मरण होता है, किसी का भला होता है, कोई विडम्बनारूप परिणामन करता है - ऐसी उस मन्त्र में शक्ति है, उसका निमित्त पाकर चेतन-अचेतन पदार्थ स्वयं ही अनेक अवस्थायें धारण करते हैं।

उसीप्रकार अज्ञानी जीव अपने अन्तरंग में विभाव भावरूप परिणामन करता है, उन भावों का निमित्त पाकर उसके बिना किये ही कोई पुद्गल पुण्य प्रकृतिरूप परिणामन करते हैं और कोई पाप प्रकृतिरूप परिणामन करते हैं, ऐसी इसके भावों में शक्ति है। इसके भावों का निमित्त पाकर पुद्गल स्वयं ही अनेक अवस्थायें धारण करता है, ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

प्रश्न ह इस जीव के जो विभावभाव होते हैं, स्वयं से ही होते हैं या उनका भी कोई निमित्त कारण है? इसका उत्तर कहते हैं ह

परिणाममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।

भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

अन्वयार्थ ह (हि) निश्चय से (स्वकैः) अपने (चिदात्मकैः) चेतनास्वरूप (भावैः) रागादि परिणामों से (स्वयमपि) स्वयं ही (परिणाममानस्य) परिणामन करते हुए (तस्य चितः अपि) पूर्वोक्त आत्मा के भी (पौद्गलिकं) पुद्गल सम्बन्धी (कर्म) ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म (निमित्तमात्रं) निमित्त मात्र (भवति) होता है।

टीका ह 'हि चिदात्मकैः स्वकैःभावैः स्वयम् अपि परिणममानस्य तस्य चितः अपि पौद्गलिकं कर्म निमित्तमात्रं भवति ।' ह निश्चय से चैतन्यस्वरूप अपने रागादि परिणामरूप से परिणमन किए हुए उस पूर्वोक्त आत्मा के भी पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्म निमित्तमात्र होते हैं ।

भावार्थ ह इस जीव के रागादि विभावभाव अपने आप ही (स्वद्रव्य के आलम्बन से) नहीं होता । यदि आप ही से हो तो वह भी ज्ञान-दर्शन की तरह स्वभावभाव हो जाये और स्वभावभाव होने पर उसका कभी भी नाश नहीं हो सकता, इसलिए ये भाव औपाधिक हैं, अन्य निमित्त से होते हैं और वे निमित्त ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों को जानना ।

जिस-जिसप्रकार द्रव्यकर्म उदयावस्था को प्राप्त होता है, उसी-उसीप्रकार आत्मा विभावभावरूप परिणमन करता है ।

प्रश्न ह पुद्गल में ऐसी कौन-सी शक्ति है कि जो चैतन्य को विभावभावरूप परिणमन करवा देती है?

उत्तर ह जिसप्रकार किसी मनुष्य के सिर पर मन्त्र पढ़ी हुई धूल डाली हो तो उस धूल के निमित्त से वह पुरुष स्वयं को भूलकर नाना प्रकार की विपरीत चेष्टायें करता है । मन्त्र के निमित्त से उस धूल में ऐसी शक्ति हो जाती है कि वह बुद्धिमान पुरुष को विपरीत *परिणमन करवा देती है ।

उसीप्रकार इस आत्मा के प्रदेशों में रागादि के निमित्त से बँधे हुए पुद्गलों के निमित्त से यह आत्मा स्वयं को भूलकर नाना प्रकार के विपरीत भावरूप परिणमन करता है । इसके विभावभावों के निमित्त से पुद्गल में ऐसी शक्ति हो जाती है कि वह चैतन्य पुरुष को विपरीत परिणमन करवा देता है ।

* प्रत्येक द्रव्य व वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से है, परद्रव्यादि का उसमें सदा अभाव ही है, इसलिए कोई किसी को परिणमन नहीं करवा सकता तो भी जीव के उसप्रकार के परिणमन करने की योग्यता के काल में बाह्य में किस सामग्री को निमित्त बनाने में आया था, उसका ज्ञान करवाने के लिए, असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त को कर्त्ता कहा जाता है, व्यवहार कथन की रीति ऐसी ही है, इसप्रकार जानना चाहिए ।

इस भाँति भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म होता है, इसे ही संसार कहते हैं ।

इस संसार का मूल कारण बताते हैं, जिसका नाश होने पर पुरुषार्थसिद्धि का उपाय बनता है ह

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।

प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

अन्वयार्थ ह (एवं) इसप्रकार (अयं) यह आत्मा (कर्मकृतैः) कर्मकृत (भावैः) रागादि अथवा शरीरादि भावों से (असमाहितः अपि) संयुक्त न होने पर भी (बालिशानां) अज्ञानी जीवों को (युक्तः इव) संयुक्त जैसा (प्रतिभाति) प्रतिभासित होता है और (सः प्रतिभासः) वह प्रतिभास ही (खलु) निश्चय से (भवबीजं) संसार का बीजरूप है ।

टीका ह 'स एव अयं कर्मकृतैःभावैः असमाहितः अपि बालिशानां युक्तः इव प्रतिभाति ।' ह इसप्रकार यह आत्मा कर्म द्वारा किये हुए नाना प्रकार के भावों से संयुक्त नहीं है तो भी अज्ञानी जीवों को अपने अज्ञान से आत्मा कर्मजनित भावों से संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है ।

भावार्थ ह पहले ऐसा कहा गया है कि पुद्गलकर्म का कारणभूत रागादिभाव है और रागादिभाव का कारणभूत पुद्गलकर्म है । इसलिए यह आत्मा निज स्वभावभाव की अपेक्षा कर्मजनित नाना प्रकार के भावों से भिन्न ही चैतन्यमात्र वस्तु है ।

जिसप्रकार लाल फूल के निमित्त से स्फटिक लाल रंगरूप परिणमन करता है; परन्तु वह लाल रंग स्फटिक का निज स्वभाव नहीं है । स्फटिक तो स्वच्छतारूप अपने श्वेतवर्ण से ही विराजमान है । लाल रंग है, वह तो स्वरूप में प्रवेश किये बिना ऊपर-ऊपर ही झलक मात्र दिखाई पड़ता है ।

वहाँ रत्न का पारखी जौहरी तो ऐसे ही जानता है; परन्तु अपारखी (अपरीक्षक) पुरुष को सत्यरूप (वास्तव में) वह स्फटिकमणि ही रक्तमणिवत् लाल रंग के स्वरूप प्रतिभासित होती है ।

उसीप्रकार कर्म निमित्त से आत्मा रागादिरूप परिणमन करता है; परन्तु वह रागादि आत्मा का निजभाव नहीं है; आत्मा तो अपने स्वच्छतारूप चैतन्यगुण में विराजमान है। रागादि हैं, वे तो स्वरूप में प्रवेश किये बिना ऊपर ही ऊपर झलक मात्र दिखाई देते हैं।

वहाँ ज्ञानी, स्वरूप का परीक्षक तो ऐसे ही जानता है; किन्तु अपरीक्षक (अपारखी) पुरुषों को सत्यरूप अर्थात् वास्तव में वह आत्मा पुद्गल कर्मवत् रागादिस्वरूप ही प्रतिभासित होता है।

प्रश्न ह्व आपने ही तो रागादिभावों को जीवकृत कहा था, अब यहाँ उन्हें कर्मकृत कैसे कहते हो?

उत्तर ह्व रागादिभाव चेतनारूप हैं, अतः उसका कर्त्ता जीव ही है; परन्तु यहाँ श्रद्धान करवाने के निमित्त मूलभूत जीव के शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से रागादिभाव कर्म के निमित्त से होते हैं; इसलिये कर्मकृत कहा है।

जैसे किसी मनुष्य को भूत (व्यन्तर) लगा हो तो वह मनुष्य उस भूत के निमित्त से नाना प्रकार की विपरीत चेष्टायें करता है। उन चेष्टाओं का कर्त्ता तो वह मनुष्य ही है; परन्तु वे चेष्टायें मनुष्य का निजभाव नहीं हैं, इसलिये उन्हें भूतकृत कहते हैं।

उसीप्रकार यह जीव कर्म के निमित्त से नाना प्रकार विपरीत भावोंरूप परिणमन करता है, उन भावों का कर्त्ता तो जीव ही है; परन्तु वह जीव के निजभाव नहीं हैं। अतः उन भावों को कर्मकृत कहते हैं अथवा कर्मकृत जो नानाप्रकार की पर्याय वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, कर्म, नोकर्म, देव-नारक-मनुष्य तिर्यञ्च शरीर, संहनन, संस्थानादि भेद अथवा पुत्र, मित्र, मकान, धन, धान्यादि भेद - इन सबसे शुद्धात्मा प्रत्यक्ष भिन्न ही है।

जिसप्रकार कोई मनुष्य अज्ञानी गुरु के कहने से एकान्त झोपड़ी में बैठकर भैंसे का ध्यान करने लगा, अपने को भैंसे के समान विशाल शरीरवाला चिन्तवन करने लगा और आकाश जितना ऊँचा सींगवाला अपने को मानकर सोचने लगा कि मैं इस झोपड़ी से बाहर कैसे निकलूंगा? यदि वह अपने को भैंसा न माने, तो मनुष्यस्वरूप तो स्वयं है ही।

उसीप्रकार यह जीव मोह के निमित्त से अपने को वर्णादिस्वरूप मानकर देवादि पर्यायों में अपनत्व मानता है। यदि न माने तो अमूर्तिक शुद्धात्मा तो आप बना ही बैठा है।

इसप्रकार यह आत्मा कर्मजनित रागादिकभाव अथवा वर्णादिक भाव से सदाकाल भिन्न है। तदुक्तम् ह्व

वर्णाद्या वा राग मोहादयो वा।

भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ॥*

तो भी अज्ञानी जीवों को आत्मा कर्मजनित भावों से संयुक्त प्रतिभासित होता है। 'खलु सः प्रतिभासः भवबीजम्' निश्चय से यह प्रतिभास ही संसार का बीजभूत है।

जैसे समस्त वृक्षों का मूलभूत बीज है, वैसे ही अनन्त संसार का मूलकारण कर्मजनित भावों को अपना मानना है। इसप्रकार अशुद्धता का कारण बताया।

पुरुषार्थसिद्धि का उपाय बताते हैं ह्व

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।

यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥१५॥

अन्वयार्थ ह्व (विपरीताभिनिवेशं) विपरीत श्रद्धान का (निरस्य) नाश करके (निजतत्त्वम्) निजस्वरूप को (सम्यक्) यथार्थरूप से (व्यवस्य) जानकर (यत्) जो (तस्मात्) अपने उस स्वरूप में से (अविचलनं) भ्रष्ट न होना (स एव) वही (अयं) इस (पुरुषार्थसिद्ध्युपायः) पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है।

टीका ह्व 'यत् विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यक् निजतत्त्वं व्यवस्य तत् तस्मात् अविचलनं स एव अयं पुरुषार्थसिद्ध्युपायः।' ह्व जो विपरीत श्रद्धान का नाश करके यथार्थरूप से निजस्वरूप को निर्णय पूर्वक जानकर फिर अपने उस स्वरूप से भ्रष्ट न होना, वही पुरुषार्थ की सिद्धि होने का उपाय है।

* यह पुरुष (आत्मा) शुद्धनय से तो वर्णादि अथवा मोहादि सभी भावों से भिन्न है।

भावार्थ ह्म पहले जो कहा था कि संसार की बीजभूत कर्मजनित पर्यायों को आत्मरूप से अपनेरूप जानने का नाम ही विपरीत श्रद्धान है और उसका मूल से विनाश करना ही सम्यग्दर्शन है। कर्मजनित पर्यायों से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप को यथार्थतया जानना सम्यग्ज्ञान है और कर्मजनित पर्यायों से उदासीन होकर स्वरूप में अकम्प ह्म स्थिर रहना सम्यक्चारित्र है।

इन तीन भावों का समुदाय ही इस जीव के कार्य सिद्ध होने का उपाय है, दूसरा कोई उपाय सर्वथा नहीं है।

जो इस उपाय में लगते हैं, उनका वर्णन करते हैं ह्म

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा ।

एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥१६॥

अन्वयार्थ ह्म (एतत् पदम् अनुसरतां) इस रत्नत्रयरूप पदवी का अनुसरण करनेवाले अर्थात् इस पदवी को प्राप्त हुए (मुनीनां) मुनियों की (वृत्तिः) वृत्ति (करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा) पापक्रिया मिश्रित आचारों से सर्वथा परान्मुख तथा (एकान्तविरतिरूपा) पर द्रव्यों से सर्वथा उदासीनरूप और (अलौकिकी) लोक से विलक्षण प्रकार की (भवति) होती है।

टीका ह्म 'एतत्पदं अनुसरतां मुनीनां वृत्तिः अलौकिकी भवति।' ह्म इस रत्नत्रयरूप पदवी को प्राप्त हुए महामुनियों की रीति लौकिक रीति से मिलती नहीं है। वही कहते हैं -

भावार्थ ह्म १. लोक पापक्रियाओं में आसक्त होकर प्रवर्तन करता है, मुनि पापक्रियाओं का चिन्तन भी नहीं करते।

२. लोक अनेक प्रकार से शरीर की सँभाल और पोषण करता है, परन्तु मुनिराज अनेक प्रकार से शरीर को परीषह उत्पन्न करके उन्हें सहन करते हैं।

३. लोक को इन्द्रिय-विषय अत्यन्त मिष्ट लगते हैं, जबकि मुनिराज विषयों को हलाहल विष-समान जानते हैं।

४. लोक को अपने पास जनसमुदाय रुचिकर लगता है, जबकि मुनिराज दूसरों का संयोग होने पर खेद मानते हैं।

५. लोक को बस्ती सुहावनी लगती है, किन्तु मुनि को निर्जन स्थान ही प्रिय लगता है। कहाँ तक कहें? महामुनि की रीति लौकिक रीति से विरुद्ध ही होती है।

कैसी है मुनियों की प्रवृत्ति ? 'करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा' पाप क्रिया सहित आचार से परान्मुख है। जिसप्रकार श्रावक का आचार पापक्रिया से मिश्रित है, वैसे मुनीश्वरों के आचार में पाप का मिश्रण नहीं है अथवा 'करम्बित' अर्थात् कर्मजनितभाव मिश्रित आचरण से परान्मुख है, केवल निजस्वरूप का अनुभव करते हैं।

इसलिए 'एकान्तविरतिरूपा' अर्थात् पापक्रिया के सर्वथा त्यागी हैं अथवा एक निजस्वभाव के अनुभव से सर्वथा पर द्रव्यों से उदासीन स्वरूप हैं। रत्नत्रय के धारक महामुनियों की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है।

उदपेश देने का क्रम बताते हैं ह्म

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जात गृह्णाति ।

तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥१७॥

अन्वयार्थ ह्म (यः) जो जीव (बहुशः) बार-बार (प्रदर्शितां) बताने पर भी (समस्त विरतिं) सकल पाप रहित मुनिवृत्ति को (जातु) कदाचित् (न गृह्णाति) ग्रहण न करे तो (तस्य) उसको (एकदेशविरतिः) एकदेश पापक्रिया रहित गृहस्थाचार (अनेन बीजेन) इस हेतु से (कथनीया) कथन करना अर्थात् समझाना चाहिए।

टीका ह्म 'यः बहुशः प्रदर्शितां समस्तविरतिं न जातु गृह्णाति तस्य एकदेशविरतिः अनेन बीजेन कथनीया।' ह्म जो जीव अनेक बार उपदेश देने पर भी सकल पाप रहित महाव्रत की क्रिया को कदाचित् ग्रहण न करे तो उस जीव को एकदेश पाप रहित श्रावकक्रिया इसतरह बतावे।

भावार्थ ह्व जो जीव उपदेश श्रवण करने में रुचिवान हो, उसे प्रथम ही बार-बार मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिए और यदि वह जीव मुनिपद अंगीकार न करे तो बाद में उसे श्रावक धर्म का उपदेश देना योग्य है।

श्रावक धर्म के उपदेश की रीति बताते हैं, उसी रीति से उपदेश देना चाहिए। जो इस अनुक्रम को छोड़कर उपदेश देता है, उस उपदेशदाता की निन्दा करते हैं ह्व

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।

तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१८॥

अन्वयार्थ ह्व (यः) जो (अल्पमतिः) तुच्छ बुद्धि उपदेशक (यतिधर्म) मुनिधर्म का (अकथयन्) कथन न करके (गृहस्थधर्म) श्रावक धर्म का (उपदिशति) उपदेश देता है, (तस्य) उस उपदेशक को (भगवत्प्रवचने) भगवान के सिद्धान्त में (निग्रहस्थानं) दण्ड देने का स्थान (प्रदर्शितं) बताया है।

टीका ह्व 'यः अल्पमतिः यतिधर्मम् अकथयन् गृहस्थधर्मम् उपदिशति तस्य भगवत्प्रवचने निग्रहस्थानं प्रदर्शितं।' ह्व जो तुच्छ बुद्धिवाला उपदेशक मुनिधर्म का उपदेश न देकर, गृहस्थधर्म का उपदेश देता है, उसे भगवान के सिद्धान्त में दण्ड का स्थान बताया है।

भावार्थ ह्व जो उपदेशक पहले यतीश्वर के धर्म का तो उपदेश न सुनाये, अपितु प्रथम ही श्रावकधर्म का व्याख्यान करे तो उस उपदेशक को जिनमत में प्रायश्चितरूप दण्ड का पात्र कहा गया है।

उपदेशक को दण्ड देने का कारण कहते हैं ह्व

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।

अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

अन्वयार्थ ह्व (यतः) जिस कारण से (तेन) उस (दुर्मतिना) दुर्बुद्धि के (अक्रमकथनेन) क्रमभंग कथनरूप उपदेश करने से (अतिदूरं) अत्यन्त दूर अर्थात् अत्यधिक (प्रोत्सहमानोऽपि) उत्साहवान होने पर भी (शिष्यः) शिष्य (अपदे अपि) तुच्छ स्थान में ही (संप्रतृप्तः) सन्तुष्ट होकर (प्रतारितः भवति) ठगाया जाता है।

टीका ह्व 'यतः तेन दुर्मतिना अक्रमकथनेन शिष्यः प्रतारितः भवति।' ह्व जिसकारण से उस मन्दबुद्धिवाले उपदेशक द्वारा अनुक्रम को छोड़कर कथन करने से सुननेवाला शिष्य ठगाया जाता है। पहले ही श्रावक धर्म का उपदेश सुनकर शिष्य क्यों ठगाया जाता है। उसका कारण कहते हैं।

कैसा है शिष्य? 'अतिदूरं प्रोत्सहमानः अपि अपदे अपि संप्रतृप्तः'। अत्यन्त दूर तक जाने के लिए उत्साहित हुआ था तो भी अपद जो तुच्छ स्थान उसमें ही संतुष्ट हुआ है। इस शिष्य के अन्तरंग में इतना अधिक उत्साह उत्पन्न हुआ था कि यदि प्रथम ही मुनिधर्म सुना होता तो मुनिपदवी ही अंगीकार करता; परन्तु उपदेशदाता ने उसको प्रथम ही श्रावकधर्म का उपदेश दिया, अतः उसने उसे ही अंगीकार कर लिया। फलतः मुनिधर्म से वंचित ही रह गया। इस वास्ते उस उपदेशदाता को इस विधान के लिए दण्ड देना योग्य है।

॥ भूमिका समाप्त ॥

धर्म के प्रेमी श्रावक

भाई। लक्ष्मी तो क्षणभंगुर है; तू दान द्वारा लक्ष्मी आदि का प्रेम हटाकर धर्म का प्रेम बढ़ा। जिसे धर्म का उल्लास होता है, उसे धर्म प्रसंग में तन-मन-धन खर्च करने का उल्लास आये बिना नहीं रहता। धर्म की शोभा किसप्रकार बढ़े, धर्मात्मा किसप्रकार आगे बढ़े और साधर्मियों को कोई प्रतिकूलता हो तो वह कैसे दूर हो ह्व ऐसा प्रसंग विचार कर श्रावक उसमें उत्साह से वर्तता है। ऐसे धर्म के प्रेमी श्रावक को दान के भाव होते हैं।

ह्व पूज्य श्री कानजी स्वामी

चार पुरुषार्थों पर ज्ञानी और अज्ञानी का विचार ।

(दोहा)

धरम अरथ अरु काम सिव, पुरुषारथ चतुरंग ।
कुधी कलपना गहि रहै, सुधी गहै सरवंग ॥

अर्थ ह्व धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - ये पुरुषार्थ के चार अंग हैं ।
उन्हें दुर्बुद्धि जीव मनचाहे ग्रहण करते हैं और सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव
सम्पूर्णतया वास्तविकरूप से अंगीकार करते हैं ।

(सवैया इकतीसा)

कुल कौ आचार ताहि मूरख धरम कहै,

पंडित धरम कहै वस्तु के सुभाउ कौं ।

खेह कौ खजानौं ताहि अग्यानी अरथ कहै,

ग्यानी कहै अरथ दरब-दरसाउ कौं ॥

दंपति कौ भोग ताहि दुरबुद्धी काम कहै,

सुधी काम कहै अभिलाष चित चाउ कौं ।

इंद्रलोक थान कौं अजान लोग कहैं मोख,

सुधी मोख कहैं एक बंध के अभाउ कौं ॥

१. अज्ञानी लोग कुलपद्धति-स्नान, चौका आदि को धर्म कहते
हैं और पंडित लोग वस्तुस्वभाव को धर्म कहते हैं ।

२. अज्ञानी लोग मिट्टी के ढेर सोने-चाँदी आदि को द्रव्य कहते
हैं, परन्तु ज्ञानी लोग तत्त्व-अवलोकन को द्रव्य कहते हैं ।

३. अज्ञानी लोग पुरुष-स्त्री के विषय-भोग को काम कहते हैं,
ज्ञानी, आत्मा की निस्पृहता को काम कहते हैं ।

४. अज्ञानी, स्वर्गलोक को वैकुण्ठ (मोक्ष) कहते हैं; पर ज्ञानी
लोग, कर्मबन्ध नष्ट होने को मोक्ष कहते हैं ।

ह्व पण्डित बनारसीदास, नाटक समयसार,
बंधद्वार, छन्द १३-१४

श्रावकधर्म-व्याख्यान

(१)

सम्यग्दर्शन अधिकार

जो जीव मुनिधर्म का भार उठाने (अंगीकार करने) में असमर्थ हैं,
उनके लिए आचार्य श्रावकधर्म का व्याख्यान करते हैं। वहाँ श्रावक को
धर्मसाधन में क्या करना चाहिए, उसका व्याख्यान किया जा रहा है ह्व

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम् ।

तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति ॥२०॥

अन्वयार्थ ह्व (एवं) इसप्रकार (तस्यापि) उस गृहस्थ को भी
(यथाशक्ति) अपनी शक्ति अनुसार (सम्यग्दर्शनबोधचरित्र-त्रयात्मकः)
सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ह्व इन तीन भेदरूप (मोक्षमार्गः)
मुक्ति का मार्ग (नित्यं) सर्वदा (निषेव्यः) सेवन करना योग्य (भवति) है ।

टीका ह्व 'तस्य अपि यथाशक्ति एवं मोक्षमार्गः निषेव्यः भवति ।' ह्व
उस गृहस्थ को भी अपनी शक्ति अनुसार जिसका वर्णन आगे किया जा
रहा है, ऐसे मोक्षमार्ग का सेवन करना योग्य है ।

भावार्थ ह्व मुनि के तो मोक्षमार्ग का सेवन सम्पूर्णरूप से होता है
और गृहस्थ को भी अपनी शक्ति प्रमाण मोक्षमार्ग का थोड़ा-बहुत
सेवन करना चाहिए; कारण कि धर्म का कोई दूसरा अंग नहीं है, जिसके
सेवन करने से अपना भला हो सके ।

कैसा है मोक्षमार्ग? 'सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मकः' सम्यग्दर्शन,
सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का त्रिक जिसका स्वरूप है । भिन्न-भिन्न
तीन मोक्षमार्ग नहीं हैं, तीनों मिलकर एक मोक्षमार्ग है ।

इन तीनों में प्रथम किसको अंगीकार करना चाहिए, वह कहते हैं ह तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।

तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

अन्वयार्थ ह (तत्रादौ) इन तीनों में प्रथम (अखिलयत्नेन) समस्त प्रकार सावधानीपूर्वक यत्न से (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन को (समुपाश्रयणीयम्) भले प्रकार अंगीकार करना चाहिए, (यतः) क्योंकि (तस्मिन् सति एव) उसके होने पर ही (ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान (च) और (चरित्रं) सम्यक्चारित्र (भवति) होता है ।

टीका ह 'तत्र आदौ अखिलयत्नेन सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयम् ।' ह

इन तीनों में प्रथम ही समस्त उपायों से, जिसप्रकार भी बन सके, उसप्रकार सम्यग्दर्शन अंगीकार करना चाहिए । इसके प्राप्त होने पर अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त होता है और इसके बिना सर्वथा मोक्ष नहीं होता ।

यह स्वरूप की प्राप्ति का अद्वितीय कारण है, अतः इसके अंगीकार करने में किंचित् मात्र भी प्रमाद नहीं करना । मृत्यु का वरण करके भी इसे प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य करना ।

बहुत कहाँ तक कहें? इस जीव के भला होने का उपाय एक सम्यग्दर्शन समान अन्य कोई नहीं, इसलिए इसे अवश्य अंगीकार करना । इसे ही प्रथम अंगीकार करने का क्या कारण है, वह बताते हैं ह 'यतः तस्मिन् सति एव ज्ञानं चरित्रं च भवति ।' उस सम्यग्दर्शन के होने पर ही सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र होता है ।

भावार्थ ह सम्यक्त्व बिना ग्यारह अंग तक पढ़ ले तो भी अज्ञानी ही कहा जाता है । महाव्रतों का साधन करके अन्तिम ग्रैवेयक तक के बन्धयोग्य विशुद्ध परिणाम करे तो भी वह असंयमी ही कहलाता है ।

तथा सम्यक्त्व सहित जितना भी जानपना होवे, उन सभी का नाम सम्यग्ज्ञान है और जो थोड़ा भी त्यागरूप प्रवर्तन करे, तो उसे सम्यक्चारित्र कहा जाता है ।

जिसप्रकार अंक सहित शून्य हो तो वह प्रमाण में आता है; किन्तु अंक बिना शून्य तो शून्य ही है । (उसीप्रकार सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र व्यर्थ ही हैं) । अतः पहले सम्यक्त्व अंगीकार करके पश्चात् अन्य साधन करना चाहिए ।

इसप्रकार जो सम्यक्त्व का लक्षण जाने तो उसे अंगीकार करे, इसलिए (प्रथम ही) उस सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं ह

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् ।

श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश-विविक्तमात्मरूपं तत् ॥२२॥

अन्वयार्थ ह (जीवाजीवादीनां) जीव-अजीवादि (तत्त्वार्थानां) तत्त्वार्थों का (विपरीताभिनिवेशविविक्तं) विपरीत अभिनिवेश (आग्रह) रहित अर्थात् अन्य को अन्यरूप समझनेरूप जो मिथ्याज्ञान है, उससे रहित (श्रद्धानं) श्रद्धान अर्थात् दृढ़विश्वास (सदैव) निरन्तर ही (कर्तव्यं) करना चाहिए कारण कि (तत्) वह श्रद्धान ही (आत्मरूपं) आत्मा का स्वरूप है ।

टीका ह 'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां श्रद्धानं सदैव कर्तव्यं ।' ह

जीव-अजीव आदि जो तत्त्वार्थ ह तत्त्व अर्थात् जिसका जैसा कुछ निज भाव है, वैसा ही होना, वह और उस तत्त्व से संयुक्त जो अर्थ अर्थात् पदार्थ वही तत्त्वार्थ - उसका श्रद्धान अर्थात् 'ऐसे ही है, अन्य प्रकार से नहीं' ह ऐसा प्रतीतिरूप भाव, वही सदा कर्तव्य है ।

कैसा श्रद्धान करना योग्य है? 'विपरीताभिनिवेशविविक्तं' अर्थात् अन्य को अन्यरूप माननेरूप मिथ्यात्व से रहित श्रद्धान करना । 'तत् आत्मरूपम् अस्ति' - वही श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है ।

जो श्रद्धान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उत्पन्न होता है, वही सिद्ध अवस्था तक रहता है; इसलिए वह उपाधि भाव नहीं है, आत्मा का निज भाव है ।

भावार्थ ह वह तत्त्वार्थ श्रद्धान दो प्रकार का है ह एक सामान्यरूप तथा दूसरा विशेषरूप ।

जो परभावों से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप को आपरूप से श्रद्धान करे, उसे 'सामान्य तत्त्वार्थ श्रद्धान' कहते हैं। यह श्रद्धान तो नारकी, तिर्यश्चादि सर्व सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है।

जीव-अजीवादि सात तत्त्वों को विशेषपने जानकर अर्थात् उनके भेदों को जानकर श्रद्धान करे, उसे 'विशेष तत्त्वार्थ श्रद्धान' कहते हैं। यह श्रद्धान मनुष्य, देवादि विशेष बुद्धिमान जीवों के होता है।

राजमार्ग (मुख्य मार्ग) की अपेक्षा सात तत्त्वों को जानना वही-सम्यक्त्व का - सम्यक् श्रद्धान का कारण है। कारण कि यदि तत्त्वों को जाने नहीं तो श्रद्धान किसका करे? इसलिए सात तत्त्वों का वर्णन संक्षेप में करते हैं ह

१. जीवतत्त्व ह प्रथम ही जीवतत्त्व चेतना लक्षण से विराजमान (वह) शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है, वहाँ ह

(अ) शुद्ध जीवतत्त्व ह जिन जीवों के सर्व गुण-पर्याय अपने निज भावरूप परिणमन करते हैं अर्थात् जिनके केवलज्ञानादि गुण शुद्ध परिणतिह्वपर्याय से विराजमान हुए हैं, उन्हें शुद्ध जीवतत्त्व कहते हैं।

(ब) अशुद्ध जीवतत्त्व ह जिन जीवों के सर्व गुण-पर्याय विकार भाव को प्राप्त हो रहे हैं, ज्ञानादि गुण आवरण से आच्छादित हो रहे हैं, उनमें से जो थोड़े बहुत प्रकट रूप हैं, वे विपरीत परिणमन कर रहे हैं और जिनकी परिणति रागादिरूप परिणमन कर रही है, उन मिथ्यादृष्टि जीवों को अशुद्ध जीवतत्त्व कहते हैं।

(स) मिश्र जीवतत्त्व ह जिन जीवों के सम्यक्त्वादि गुणों की शक्ति कुछ शुद्ध हो गई है अथवा उनमें भी कुछ मलिनता शेष रह गई है। अर्थात् किन्हीं ज्ञानादि गुणों की शक्ति कुछ शुद्ध हो गई है तथा शेष सब अशुद्ध रह गई है। कुछ गुण अशुद्ध (ही) हो रहे हैं, ऐसी तो गुणों की दशा हुई है और जिनकी परिणति शुद्धाशुद्धरूप परिणमन कर रही है, उन जीवों को शुद्धा शुद्धस्वरूप मिश्र कहते हैं। इस भाँति जीवतत्त्व तीन प्रकार का है।

२. अजीवतत्त्व ह जो चेतनागुण से रहित हैं, वे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल (कालाणुरूप) पाँच प्रकार के हैं। उनमें ह

(क) पुद्गलद्रव्य ह स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण संयुक्त अणु तथा स्कन्ध के भेद से दो प्रकार का है। उनमें जो एकाकी अविभागी परमाणु है, उसे अणु कहते हैं। अनेक अणु मिलकर स्कन्धरूप होने पर स्कन्ध कहलाता है। अथवा पुद्गल द्रव्य के छह भेद हैं।

(१) स्थूल-स्थूल ह काष्ठ-पाषाणादि जो छेदे-भेदे जाने पर बाद में मिलें नहीं, उन्हें स्थूल-स्थूल पुद्गल कहते हैं।

(२) स्थूल ह जो जल, दूध, तेल आदि द्रव पदार्थों की तरह छिन्न-भिन्न होने पर फिर तुरन्त ही मिल सकें, उन्हें स्थूल कहते हैं।

(३) स्थूल-सूक्ष्म ह आताप, चाँदनी, अन्धकारादि जो आँख से दिखाई पड़ें; किन्तु पकड़ने में न आवें, उन्हें स्थूल-सूक्ष्म कहते हैं।

(४) सूक्ष्म-स्थूल ह जो शब्द, गन्धादि आँख से दिखाई न पड़े; किन्तु अन्य इन्द्रियों से ज्ञान में आवें, उन्हें सूक्ष्म-स्थूल कहते हैं।

(५) सूक्ष्म ह जो कार्माण स्कन्धादिक बहुत परमाणुओं के स्कन्ध हैं; परन्तु इन्द्रियगम्य नहीं हैं, उन्हें सूक्ष्म कहते हैं,

(६) सूक्ष्म-सूक्ष्म ह अति सूक्ष्म स्कन्ध अथवा परमाणु को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं। इस प्रकार इस लोक में प्रचुर प्रसार इस पुद्गल द्रव्य का ही है।

(ख) धर्मद्रव्य ह (स्वयं गतिशील) जीव और पुद्गलों को गति करने में सहकारी गुण संयुक्त लोक प्रमाण एक द्रव्य है।

(ग) अधर्मद्रव्य ह जीव और पुद्गलों को गति पूर्वक स्थिति करने में सहकारी गुण संयुक्त लोक प्रमाण एक द्रव्य है।

(घ) आकाशद्रव्य ह सर्व द्रव्यों को अवगाहन हेतुत्वलक्षण संयुक्त लोकालोक प्रमाण एक द्रव्य है; जिसमें समस्त द्रव्य पाये जायें, उसे लोक और जहाँ केवल एक आकाश ही है, उसे अलोक कहते हैं। दोनों की सत्ता भिन्न नहीं है, अतः एक ही द्रव्य है।

(ड) कालद्रव्य हूँ सर्व द्रव्यों को वर्तनाहेतुत्व लक्षण संयुक्त लोक के एक-एक प्रदेश पर स्थित एक-एक प्रदेश मात्र असंख्यात द्रव्य हैं। उनके परिणाम के निमित्त से समय, आवली आदि व्यवहार काल है।

इसप्रकार जीव द्रव्य सहित छह द्रव्य जानना। काल के बहु प्रदेश नहीं हैं, अतः काल के बिना शेष पाँच द्रव्यों को पंचास्तिकाय कहते हैं।

इसमें जीवतत्त्व और पुद्गल-अजीवतत्त्व के परस्पर सम्बन्ध से अन्य पाँच तत्त्व होते हैं।

३. आस्रवतत्त्व हूँ जीव के रागादि परिणामों से योग द्वारा आने वाले पुद्गल के आगमन को आस्रवतत्त्व कहते हैं।

४. बन्धतत्त्व हूँ जीव की अशुद्धता के निमित्त से आये हुए पुद्गलों का ज्ञानावरणादिरूप अपनी स्थिति और रससंयुक्त आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्धरूप रहने को बन्धतत्त्व कहते हैं।

५. संवरतत्त्व हूँ जीव के रागादि परिणाम के अभाव से पुद्गलों के न आने को संवरतत्त्व कहते हैं।

६. निर्जरातत्त्व हूँ जीव के शुद्धोपयोग के बल से पूर्व में बँधे हुए कर्मों के एकदेश नाश होने को संवरपूर्वक निर्जरातत्त्व कहते हैं।

कर्म के फल को भोगने पर जो उनकी निर्जरा होती है; वह निर्जरा मोक्ष के लिए कारणभूत नहीं है।

७. मोक्षतत्त्व हूँ सर्वथा कर्म के नाश होने पर जीव के निजभाव प्रकट होने को मोक्षतत्त्व कहते हैं। ये सात तत्त्वार्थ जानना।

पुण्य-पाप तत्त्व हैं, वे आस्रवतत्त्व के भेद हैं; इसलिए अलग नहीं कहे गए। इसप्रकार यह तत्त्वार्थ का श्रद्धान है हूँ वही सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है।

प्रश्न हूँ इस लक्षण में अव्याप्तिदोष आता है। किसप्रकार? जिस समय सम्यग्दृष्टि विषय-कषाय की तीव्रतारूप परिणामन करता है, तब ऐसा श्रद्धान कैसे रह सकता है? लक्षण तो वह है, जो लक्ष्य में सर्वथा सदाकाल पाया जाये।

उत्तर हूँ जीव के दो भाव हैं हूँ एक श्रद्धानरूप है, दूसरा परिणामनरूप है। श्रद्धानरूप तो सम्यक्त्व का लक्षण है और परिणामरूप चारित्र का लक्षण है। सम्यग्दृष्टि विषय-कषाय के परिणामनरूप हुआ, श्रद्धान में प्रतीति यथावत् है।

जिसप्रकार गुमाश्ता साहूकार का नौकर है, उसके अन्तरंग में ऐसी प्रतीति है कि यह सब कुछ सेठ का कार्य है, मेरा घर तो भिन्न ही है। परिणामों से तो सेठ के कार्य में प्रवर्तन करता है और उस सेठ के कार्य को “मेरा-मेरा” भी कहता है, नफा-नुकसान होने पर हर्ष-शोक भी करता है और उस प्रतीति को बार-बार सँभालता भी नहीं है; परन्तु जिस समय उस सेठ का और अपना हिसाब करता है, तब जैसी प्रतीति अन्तरंग में थी, वैसी प्रकट करता है। सेठ के कार्य में प्रवर्तन करते समय वह प्रतीति शक्तिरूप रहती है।

कदाचित् वह सेठ के धन की चोरी करके उसे अपना जाने तो उसे अपराधी कहते हैं। फिर वह गुमाश्ता सेठ की नौकरी को पराधीन दुखदायक मानता है; परन्तु अपने स्वयं के धन के बल बिना आजीविका के वशवर्ती होकर उसके काम में प्रवर्तन करता है, वैसा ही ज्ञानी कर्म के उदय को भोगता है।

इसके अन्तरंग में ऐसी प्रतीति है कि यह सब दिखावा मात्र भेष है। मेरा स्वरूप तो उन सबसे भिन्न ही है। परिणामों के द्वारा औदयिक भावों में परिणामन करता है। कर्मोदय के सम्बन्ध के वश ‘मेरा-मेरा’ भी कहता है और अपनी उस प्रतीति को बार-बार सम्हालता भी नहीं है।

जिस-जिस समय उस कर्म और अपने स्वरूप का विचार करता है तब जैसी प्रतीति अन्तरंग में थी, वैसी ही प्रकट करता है। फिर उस कर्म के उदय में वह प्रतीति शक्तिरूप रहती है। यदि कदाचित् कभी भी उस कर्म के उदय को श्रद्धान में अपना जाने तो उसे मिथ्यात्वी कहते हैं।

पुनः वह ज्ञानी कर्म के उदय को पराधीन दुःख जानता है; परन्तु अपने शुद्धोपयोग के बल बिना पूर्वबद्ध कर्म के वश होकर कर्म के औदयिक भावों में प्रवर्तन करता है।

इसप्रकार सम्यक्त्वी के तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन परिणामरूप तो निर्बाधरूप से निरन्तर ही है; परन्तु ज्ञानोपयोग अपेक्षा से देखा जायें, तो सामान्यरूप अथवा विशेषरूप अवस्था में अथवा व्यक्त अवस्था में (सम्यक् रूप परिणाम तो) सदाकाल होता ही है।

प्रश्न ह्व भले ही इस लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं है; परन्तु अतिव्याप्ति दोष तो लगता है। कारण कि द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीत सात तत्त्वों को ही मानता है, अन्य मत के कल्पित तत्त्वों को नहीं मानता। लक्षण तो ऐसा होना चाहिए, जो लक्ष्य के अलावा अन्य स्थान में न पाया जायें।

उत्तर ह्व द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीत तत्त्वों को ही मानता है; परन्तु शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को अपनी जानता है, इससे अजीवतत्त्व में जीवतत्त्व का श्रद्धान करता है, पुनः आस्रव बन्धरूप जो शील* संयमादिकरूप परिणाम हैं, उन्हें संवर-निर्जरारूप मानकर मोक्ष का कारण मानता है। द्रव्यलिंगी पाप से तो विरक्त हुआ है; परन्तु पुण्य में उपादेय बुद्धि से परिणाम करता है, इसलिए उसे तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं है। इस भाँति (विपरीत अभिप्रायरहित) तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन अंगीकार करना चाहिए।

सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन करते हैं ह्व

१. निःशंकित अंग ह्व

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः ।

किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्या ॥२३॥

अन्वयार्थ ह्व (अखिलज्ञैः) सर्वज्ञदेव द्वारा (उक्तं) कहा गया (इदं)

यह (सकलं) समस्त (वस्तुजातं) वस्तुसमूह (अनेकान्तात्मकं)

* शील - शुभभावरूप व्यवहार ब्रह्मचर्यादि।

अनेकान्तस्वभावरूप है, वह (किमु सत्यं) क्या सत्य है (वा असत्यं) अथवा असत्य है? (इति) ऐसी (शंका) शंका (जातु) कभी भी (न) नहीं (कर्त्तव्या) करनी चाहिए।

टीका ह्व 'अखिलज्ञैः इदं सकलं वस्तुजातम् अनेकान्तात्मकम् उक्तं किमु सत्यं वा असत्यं वा जातु इति शंका न कर्त्तव्या।' ह्व

सर्वज्ञदेव ने यह समस्त जीवादि पदार्थों का समूह अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभाव सहित कहा है। क्या वह सच्चा है या झूठा? ऐसी शंका कभी नहीं करनी चाहिए, यह निःशंकित है।

भावार्थ ह्व शंका नाम संशय का है। जिन प्रणीत पदार्थों में शंका नहीं करना, इसी को निःशंकित^१ नामक अंग कहते हैं। कारण कि जिन भगवान अन्यथावादी नहीं हैं।

२. निःकांक्षित अंग ह्व

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन् ।

एकान्तवाददूषित परसमयानपि च नाकांक्षेत् ॥२४॥

अन्वयार्थ ह्व (इह) इस (जन्मनि) लोक में (विभवादीनि) ऐश्वर्य, सम्पदा आदि, (अमुत्र) परलोक में (चक्रित्वकेशवत्वादीन्) चक्रवर्ती, नारायण आदि पदों को (च) और (एकान्तवाददूषितपरसमयान्) एकान्तवाद से दूषित अन्य धर्मों को (अपि) भी (न आकांक्षेत्) न चाहे।

टीका ह्व 'इह जन्मनि विभवादीनि न आकांक्षेत्।' ह्व सम्यग्दृष्टि इस लोक में तो सम्पदा इत्यादि तथा पुत्रादिक को नहीं चाहता। 'च अमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन् न आकांक्षेत्।' तथा परलोक में चक्रवर्ती पद, नारायण पद और आदि शब्द से इन्द्रादिक पद को नहीं चाहता। 'एकान्तवाददूषितपरसमयान् अपि न आकांक्षेत्।' वस्तु के एकान्त स्वरूप को कथन करने के कारण जो दूषित हैं, ऐसे अन्य मत हैं, उनको भी नहीं चाहता।

१. स्वामी समन्तभद्राचार्य कृत रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ११ में कहा है कि तत्त्व यही है, ऐसे ही है, अन्य नहीं है अथवा अन्य रीति से नहीं है। ऐसी निष्कम्प तलवार की तीक्ष्णधार के समान सन्मार्ग में संशय रहित रुचि - विश्वास को निःशंकित अंग कहते हैं।

भावार्थ ह निःकांक्षित^१ नाम वांछा रहित का है। कारण कि इस लोक सम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी पुण्य-पाप के फल को नहीं चाहता। इसलिए सम्यक्त्वी पुण्य-पाप के फलरूप इन्द्रियों के विषयों को आकुलता का निमित्त होने से दुःखरूप ही मानता है तथा अन्यमती नाना प्रकार की एकान्तरूप कल्पना करते हैं, उन्हें भला जानकर नहीं चाहता है।

३. निर्विचिकित्सा अंग

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु ।

द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥

अन्वयार्थ ह (क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु) भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी इत्यादि (नानाविधेषु) नाना प्रकार के (भावेषु) भावों में और (पुरीषादिषु) विष्टा आदि (द्रव्येषु) पदार्थों में (विचिकित्सा) ग्लानि (न एव) नहीं (करणीया) करना चाहिए।

टीका ह 'क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा न एव करणीया।' ह क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण इत्यादि नाना प्रकार की दुःखदायक पर्यायों में एवं अपवित्र विष्टा आदि पदार्थों में ग्लानि नहीं करना चाहिए।

भावार्थ ह विचिकित्सा नाम असुहावने का है अथवा ग्लानि का है, उससे जो रहित हो, उसे निर्विचिकित्सा^२ कहते हैं। पाप के उदय से दुःखदायक भावों के संयोग होने पर उद्वेगरूप न होना, कारण कि उदयाधीन कार्य अपने वश नहीं हैं।

१. निःकांक्षित अंग ह (विषयों की व विषय के साधनों की अभिलाषा ह आशा को कांक्षा कहते हैं) अर्थात् कर्म के वश, अन्तवाले, उदय में दुःखमिश्रित और पाप का बीजरूप सुख में अनित्यता का श्रद्धान होना, वह निःकांक्षित अंग है। (रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक १२)

२. निर्विचिकित्सा अंग ह रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से पवित्र; परन्तु स्वाभाविक अपवित्र शरीर में (मुनि-धर्मात्मा के मलिन शरीर में) ग्लानि न करके उनके गुणों में प्रीति करना, निर्जुगुप्सा अंग कहलाता है। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १३)

इस दुःख से अमूर्तिक आत्मा का घात भी नहीं है, फिर विष्टादि निन्द्य वस्तु में ग्लानिरूप न होना, क्योंकि वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है; इसमें आत्मा को क्या? अथवा जिस शरीर में अगात्मा निवास करता है, उसमें तो सभी वस्तुएँ निन्द्य ही हैं।

४. अमूढदृष्टि अंग^१

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।

नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥२६॥

अन्वयार्थ ह (लोके) लोक में (शास्त्राभासे) शास्त्राभास में (समयाभासे) धर्माभास में (च) और (देवताभासे) देवाभास में (तत्त्वरुचिना) तत्त्वों में रुचिवान सम्यग्दृष्टि पुरुष को (नित्यमपि) सदा ही (अमूढदृष्टित्वं) मूढ़ता रहित श्रद्धान (कर्त्तव्यं) करना चाहिए।

टीका ह 'तत्त्वरुचिना नित्यम् अपि अमूढदृष्टित्वं कर्त्तव्यम्'। ह

तत्त्वश्रद्धावान पुरुष को सदैव अमूढदृष्टि होना चाहिए। यथार्थज्ञान रहित का नाम मूढ़दृष्टि है, श्रद्धानवाले को उस रूप होना योग्य नहीं।

कहाँ-कहाँ होना योग्य नहीं? वह आगे बतलाते हैं।

लोके ह लोक में बहुत से जीव विपरीत भाव में प्रवर्तन करते हों तो भी स्वयं को उनकी तरह (देखा-देखी से) प्रवर्तन नहीं करना चाहिए।

शास्त्राभासे - शास्त्र जैसा प्रतिभासित होनेवाले अन्यवादियों द्वारा रचे गए ग्रन्थों में रुचिरूप प्रवर्तन नहीं करना चाहिए।

समयाभासे^२ ह सच्चे मत की तरह ही प्रतिभासित होने पर अन्यमत में कोई क्रिया भली जैसी मालूम पड़े तो भी उसे भला जानकर प्रवर्तन

१. अमूढदृष्टि अंग ह दुःखदायक छोटे मार्ग या कुत्सित धर्मों और कुमार्गों में रहनेवाले पुरुषों में (भले ही वे लौकिक में प्रख्यात हों या) मन से भी प्रामाणिकता नहीं माने, काया से प्रशंसा और वचन से स्तुति नहीं करे, उसे अमूढदृष्टि कहते हैं। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १४)

२. समयाभास ह यथार्थ में जो पदार्थ तत्त्वार्थ नहीं है, परन्तु भ्रम बुद्धि से वैसे (तत्त्वार्थरूप) दिखाई पड़ने लगें, जैसे कि मिथ्यादृष्टियों के बनाए शास्त्र यथार्थ में तो शास्त्र नहीं हैं; परन्तु भ्रम से शास्त्र जैसे भासित हों, यह शास्त्राभास - समयाभास है।

नहीं करना अथवा समय अर्थात् पदार्थ सरीखा प्रतिभासित हो ऐसे अन्यवादियों द्वारा कहे गये कल्पित तत्त्व, युक्ति-युक्त सा भासित होने पर भी उसमें सत्यबुद्धि नहीं करनी चाहिए।

देवताभासे ह यद्यपि देव जैसा प्रतिभासित हो तो भी अरहन्त देव के अलावा अन्य देवों में किंचित् चमत्कारादि देखकर विनयरूप प्रवर्तन नहीं करना चाहिए।

‘च’कार से और भी जो गुरु जैसा प्रतिभासित हो; ऐसे विषय-कषाय से युक्त लम्पटी वेषधारी के प्रति विनयरूप प्रवर्तन नहीं करना चाहिए। इस भाँति यथार्थज्ञान से भ्रष्ट करने वाले कारणों से पूर्णरूपेण सावधान रहना चाहिए।

५. उपबृंहण अंग^१

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।

परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥२७॥

अन्वयार्थ ह (उपबृंहणगुणार्थ) उपबृंहण नामक गुण के लिये (मार्दवादिभावनया) मार्दव, क्षमा, सन्तोषादि भावानाओं से (सदा) निरन्तर (आत्मनो धर्मः) अपने आत्मा के धर्म की अर्थात् शुद्धस्वभाव की (अभिवर्द्धनीयः) वृद्धि करनी चाहिए और (परदोषनिगूहनमपि) दूसरे के दोषों को गुप्त भी रखना (विधेयम्) चाहिए (यह भी कर्तव्य है)।

टीका ह ‘उपबृंहणगुणार्थं मार्दवादिभावनया सदा आत्मनः धर्मः अभिवर्द्धनीयः ।’ह उपबृंहण नामक गुण के लिए मार्दव अर्थात् कोमल परिणाम तथा आदि शब्द से क्षमा-सन्तोषादि भावना से सदा अपने आत्मा का निजस्वभाव प्रकटरूप से बढ़ाना तथा ‘परदोषनिगूहनमपि विधेयम् ।’ह अन्य जीव का जो कोई निन्दायोग्य दोष हो, उसे प्रकट न करके छिपाना उचित है।

१. उपगूहन अंग ह मोक्षमार्ग स्वयं तो शुद्ध ही है। अशक्त और अज्ञानी जीवों के आश्रय से उत्पन्न हुई उसकी निन्दा को दूर करना, उपगूहन कहलाता है। (स्वसन्मुखता के बल से शुद्धि की वृद्धि करने को उपबृंहण अंग कहते हैं।) (रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक १५)

भावार्थ ह उपबृंहण का अर्थ बढ़ाना है, अतः अपने आत्मा का धर्म बढ़ाना। पुनः इस अंग का अपरनाम उपगूहन भी है, इस अपेक्षा से दूसरे के दोषों को छिपाना योग्य है; क्योंकि उन्हें प्रकट करने से उनको दुःख उत्पन्न होता है।

६. स्थितिकरण अंग^१

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात् ।

श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥२८॥

अन्वयार्थ ह (कामक्रोधमदादिषु) काम, क्रोध, मद, लोभादि विकार (न्यायात् वर्त्मनः) न्यायमार्ग से अर्थात् धर्ममार्ग से (चलयितुम्) विचलित करवाने के लिए (उदितेषु) प्रकट हुए हों, तब (श्रुतं) शास्त्र अनुसार (आत्मनः परस्य च) अपनी और पर की (स्थितिकरणं) स्थिरता (अपि) भी (कार्यम्) करनी चाहिए।

टीका ह ‘कामक्रोधमदादिषु न्यायात् वर्त्मनः चलयितुम् उदितेषु आत्मनः परस्य च श्रुतं युक्त्या स्थितिकरणम् अपि कार्यम् ।’ह

मैथुन के भाव, क्रोध का भाव, मान के भाव तथा आदि शब्द से लोभादिक के भाव न्यायरूप धर्म-मार्ग से भ्रष्ट करनेवाले हैं। अतः उनके प्रकट होने पर अपने को तथा अन्य जीवों को शास्त्रानुसार युक्ति से धर्म में स्थिर करना भी श्रद्धावान पुरुष को योग्य है।

भावार्थ ह जो धर्म से भ्रष्ट हैं, उन्हें पुनः धर्म में स्थापित करना स्थितिकरण है और धर्मभ्रष्टता काम-क्रोधादि के वशीभूत होने पर होती है। इसलिए जो इनके निमित्त से अपने परिणाम भ्रष्ट हों तो स्वयं युक्ति पूर्वक धर्म में स्थिर होना चाहिए और अन्य जीव भ्रष्ट हों तो उन्हें भी जैसे बने, वैसे धर्म में दृढ़ करना चाहिए।

१. स्थितिकरण अंग ह सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से चलायमान होने पर जीवों को धर्मवत्सल विद्वानों द्वारा स्थिरीभूत करने को स्थितिकरण अंग कहते हैं। (रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक १६)

७. वात्सल्य अंग^१

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।

सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ॥२९॥

अन्वयार्थ ह्य (शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने) मोक्षसुखरूप सम्पदा के कारणभूत (धर्मे) धर्म में, (अहिंसायां) अहिंसा में (च) और (सर्वेषु अपि) सभी (सधर्मिषु) साधर्मि जनों में (अनवरतं) निरन्तर (परमं) उत्कृष्ट (वात्सल्यं) वात्सल्य अथवा प्रीति का (आलम्ब्यम्) आलम्बन करना चाहिए ।

टीका ह्य 'शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने अहिंसायां धर्मे सर्वेषु अपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यम् अनवरतम् आलम्ब्यम् ।' ह्य मोक्षसुख की सम्पदा के कारणभूत हिंसा रहित जिनप्रणीत अहिंसामय धर्म में तथा उस धर्मयुक्त सभी साधर्मियों में उत्कृष्ट वात्सल्य निरन्तर रखना चाहिए ।

भावार्थ ह्य गोवत्स जैसी प्रीति का नाम वात्सल्य है ।

जैसे बछड़े की प्रीति से गाय सिंहनी के सन्मुख चली जाती है और विचार करती है कि मेरा भक्षण हो जाए और बछड़े की रक्षा हो जाए तो अत्युत्तम है - ऐसी प्रीति अहिंसा धर्म और धर्मात्मा साधर्मि के प्रति होनी चाहिए, जो तन-मन-धन सर्वस्व खर्च करके अपनी प्रीति को पाले ।

८. प्रभावना अंग

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।

दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

अन्वयार्थ ह्य (सततमेव) निरन्तर (रत्नत्रयतेजसा) रत्नत्रय के तेज से (आत्मा) अपनी आत्मा को (प्रभावनीयः) प्रभावनायुक्त करना चाहिए (च) और (दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः) दान, तप, जिन-पूजन और विद्या के अतिशय से अर्थात् इनकी वृद्धि करके (जिनधर्मः) जैनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए ।

१. वात्सल्य अंग ह्य अपने साथ के धर्मात्मा जीवों का सच्चे भाव से कपट रहित यथायोग्य सत्कार करना, वात्सल्य अंग है ।

टीका ह्य 'रत्नत्रयतेजसा सततम् एव आत्मा प्रभावनीयः ।' ह्य रत्नत्रय के तेज से निरन्तर अपनी आत्मा को प्रभावनासंयुक्त करना चाहिए और 'दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः जिनधर्मः प्रभावनीयः ।' तथा दान, तप, जिनपूजा, विद्या, चमत्कारादि से जैनधर्म की प्रभावना करना चाहिए ।

भावार्थ ह्य प्रभावना^१ अर्थात् अतिशय प्रकट करना । अपने आत्मा का अतिशय तो रत्नत्रय प्रताप बढ़ने से प्रगट होता है और जैनधर्म का अतिशय प्रचुर दया-दान से, उग्रतप करके, बहुत धन खर्च करके भगवान की पूजा करवाकर, शास्त्राभ्यास करके तथा निर्दोष देवादि के चमत्कार करवाकर प्रकट होता है, अतः ऐसा अतिशय प्रकट करना चाहिए ।

इसप्रकार सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन किया । ये आठ अंग किसी सम्यग्दृष्टि के सम्पूर्ण होते हैं, किसी के थोड़े होते हैं, किसी के गौणरूप से तथा किसी के मुख्यरूप से होते हैं ।

सम्यक्त्व की शोभा तो तभी होती है, जब ये आठों अंग सम्पूर्ण मुख्यरूप से प्रकट प्रत्यक्ष भासित हों । इस भाँति सम्यक्त्व अंगीकार करने के पश्चात् धर्मी गृहस्थ को क्या करना चाहिए; यह आगे कहेंगे ।

इसप्रकार श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (जिसका अपर नाम जिनप्रवचनरहस्यकोष है) में सम्यग्दर्शन वर्णन नामक प्रथम अधिकार समाप्त ।



१. प्रभावना अंग ह्य (विवेक पूर्वक) जैसे बने, वैसे अज्ञानान्धकार के प्रसार को दूर करके जिनशासन के माहात्म्य का प्रकाश करना, प्रभावना अंग कहलाता है (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १८)

श्रावकधर्म – व्याख्यान (२)

सम्यग्ज्ञान अधिकार

सम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान का सेवन करना चाहिए ह
इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन ।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ॥३१॥
पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य ।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयोः ॥३२॥

अन्वयार्थह (इति) इसप्रकार (आश्रितसम्यक्त्वैः) जिन्होंने सम्यक्त्व का आश्रय लिया है ऐसे (आत्महितैः) आत्महितकारी पुरुषों को (नित्यं) सदैव (आम्नाययुक्तियोगैः) जिनागम की परम्परा और युक्ति अर्थात् प्रमाण-नय के अनुयोग से (निरूप्य) विचार करके (यत्नेन) प्रयत्नपूर्वक (सम्यग्ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान का (समुपास्यं) भले प्रकार से सेवन करना योग्य है। (दर्शनसहभाविनःअपि) सम्यग्दर्शन के साथ ही उत्पन्न होने पर भी (बोधस्य) सम्यग्ज्ञान का (पृथक् आराधनं) जुदा ही आराधन करना (इष्टं) कल्याणकारी है, (यतः) कारण कि (अनयोः) इन दोनों में अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में (लक्षणभेदेन) लक्षण के भेद से (नानात्वं) भिन्नता (संभवति) संभव है।

टीका ह 'इत्याश्रितसम्यक्त्वैः आत्महितैः च यत्नेन सम्यग्ज्ञानं समुपास्यम् ।' ह इसप्रकार जिन्होंने सम्यक्त्व अंगीकार किया है, ऐसे अपने आत्मा का हित करनेवाले धर्मात्मा जीवों को जिस-तिस उचित उपाय से सम्यग्ज्ञान का सेवन करना चाहिए।

सम्यक्त्व को अंगीकार करने के बाद सम्यग्ज्ञान का सेवन करना। 'किंकृत्य' किस भाँति सेवन करना? 'आम्नाययुक्तियोगैः निरूप्य' आम्नाय अर्थात् जिनागम की परम्परा और युक्ति अर्थात् प्रमाण-नय के अनुयोग से भले प्रकार उस सम्यग्ज्ञान का विचार-निर्णय करके उसका सेवन करना।

भावार्थ ह जो पदार्थ का स्वरूप जिनागम की परम्परा से मिलता हो, उसको प्रमाण और नय से अपने उपयोग में ठीक करके यथावत् जानने को ही सम्यग्ज्ञान का सेवन करना कहा जाता है। उस प्रमाण-नय का स्वरूप किंचिन्मात्र लिखते हैं।

प्रमाण-नय का संक्षिप्त स्वरूप

सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। वह प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं। जो ज्ञान केवल आत्मा के ही आधीन होकर अपने विषयप्रमाण विशदता से स्पष्ट जाने, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तो एकदेश प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष है तथा जो नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा वर्णादिक को साक्षात् ग्रहण करे अर्थात् जाने, उसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

परमार्थ से यह जानना परोक्ष ही है, कारण कि स्पष्ट जानपना नहीं है। इसका उदाहरण-जैसे आँख से किसी वस्तु को सफेद जाना, उसमें मलिनता का भी मिश्रण है। अमुक अंश श्वेत है और अमुक मलिन है - ऐसा इसे स्पष्ट प्रतिभासित नहीं होता। अतः यह व्यवहारमात्र प्रत्यक्ष है; परन्तु आचार्य इसे परोक्ष ही कहते हैं। मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान से जो जानना होता है, वह सब परोक्ष कहलाता है।

परोक्ष प्रमाण ह जो ज्ञान अपने विषय को स्पष्ट न जाने, उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं। उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम ये पाँच भेद जानना।

१. स्मृति ह्व पूर्व में जिस पदार्थ को जाना था, उसे ही याद करके कालान्तर में जान लेने को स्मृति कहते हैं।

२. प्रत्यभिज्ञान ह्व जैसे पहले किसी पुरुष को देखा था, फिर बाद में याद किया कि यह तो वही पुरुष है, जिसे मैंने पहले देखा था। जो पहले की बात याद करके प्रत्यक्ष पदार्थ का निश्चय करे, उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

जैसे पहले यह सुना था कि नीलगाय नामक पशु गाय जैसा होता है, वहाँ कदाचित् वन में नीलगाय को देखा तो यह याद आया कि गाय जैसी नीलगाय होती है ऐसा पहले सुना था, वह नीलगाय पशु यही है।

३. तर्क ह्व व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। “इसके बिना यह नहीं” इसे व्याप्ति कहते हैं। जिसतरह अग्नि के बिना धुआँ नहीं होता, आत्मा के बिना चेतना नहीं होती। इस व्याप्ति के ज्ञान को ही तर्क कहते हैं।

४. अनुमान ह्व लक्षण के द्वारा पदार्थ का निश्चय किया जाये, उसे अनुमान कहते हैं। जैसे किसी पर्वत पर धुआँ निकलता देखकर निश्चय करना कि यहाँ अग्नि है।

५. आगम ह्व आप्त के वचन के निमित्त से पदार्थ के जानने को आगम कहते हैं। जैसे शास्त्र से लोक का स्वरूप जानना।

इसप्रकार परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद जानना।

नय

श्रुतज्ञान प्रमाण के अंश को नय कहते हैं। प्रमाण से जो पदार्थ जाना था, उस पदार्थ का उसके एक धर्म की मुख्यता से जो अनुभव कराये, उसे नय कहते हैं। उसके दो भेद हैं – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

जो द्रव्य को मुख्य करके अनुभव कराये, वह द्रव्यार्थिकनय है। उसके तीन भेद हैं ह्व

१. नैगमनय ह्व संकल्प मात्र से पदार्थ के ग्रहण करने – जानने को नैगमनय कहते हैं। जैसे कठौती बनाने के लिए कोई लकड़ी लेने जा रहा था। उससे किसी ने पूछा कि “तुम कहाँ जा रहे हो?” तब उसने उत्तर दिया कि “मैं कठौती लेने जा रहा हूँ।” जहाँ वह जा रहा है, वहाँ कठौती तो नहीं मिलेगी; परन्तु उसके विचार में है कि मैं लकड़ी लाकर कठौती बनाऊँगा।

२. संग्रहनय ह्व सामान्यरूप से पदार्थों के ग्रहण को संग्रहनय कहते हैं। जैसे छह जाति के समस्त द्रव्य, सत्ता लक्षण संयुक्त हैं। इन छह द्रव्यों के समूह को द्रव्य संज्ञा द्वारा अथवा सत्ता लक्षण द्वारा जानना, इस नय का प्रयोजन है।

३. व्यवहारनय ह्व सामान्यरूप से (संग्रहनय से) जाने हुए द्रव्य के विशेष (भेद) करने को व्यवहारनय कहते हैं। जैसे द्रव्य के छह भेद करना। इसप्रकार ये तीन भेद द्रव्यार्थिकनय के बताये हैं।

जो पर्याय की मुख्यता से अनुभव करावे, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

अब पर्यायार्थिकनय के चार भेद कहते हैं ह्व

१. ऋजुसूत्रनय ह्व जो नय वर्तमान पर्यायमात्र को जानता है, उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं।

२. शब्दनय ह्व जो नय व्याकरणादि के अनुसार शब्द की अशुद्धता को दूर करता है, उसे शब्दनय कहते हैं।

३. समभिरूढनय ह्व पदार्थ में मुख्यता से एक अर्थ के आरूढ़ करने को समभिरूढनय कहते हैं। जैसे “गच्छतीति गौः” के अनुसार ‘जो चले, वही गौ’ होती है; परन्तु यहाँ बैठी हुई को भी गौ कह देते हैं।

४. एवंभूतनय ह्व वर्तमान क्रिया जैसी हो, उसी के अनुसार वैसा ही कहना एवंभूतनय है। जैसे चलती हुई को गौ कहना, सोती हुई अथवा बैठी हुई को गौ न कहना। इसप्रकार नय के भेद जानना चाहिए।

(इनमें शब्दनय, समभिरूढनय तथा एवंभूतनय को शब्दनय कहते हैं।) इस प्रमाण-नय के संयोग को युक्ति कहते हैं। “नयप्रमाणाभ्यां युक्तिः इति वचनात्।” यहाँ पर प्रमाण-नय का थोड़ा-सा कथन इसलिए कर दिया है कि प्रमाण-नय बिना पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

“प्रमाणनयैरधिगमः”। (तत्त्वार्थसूत्र, अ० १-६)

‘बोधस्य दर्शनसहभाविनोऽपि पृथक् आराधनम् इष्टम्’। ह

अर्थात् सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है, फिर भी इसका अलग आराधन करना कल्याणकारी है।

जिस समय आत्मा को सम्यग्दर्शन होता है, उस समय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो अवश्य होता ही है; परन्तु इस सम्यग्ज्ञान को विशेषरूप से जुदा आराधन करना योग्य है।

किसलिए? ‘यतः लक्षणभेदेन अनयोः नानात्वं संभवति।’ ह

कारण कि लक्षण भेद से इन दोनों में भिन्नत्व सम्भव है। सम्यक्त्व का लक्षण यथार्थ श्रद्धान है और इसका (ज्ञान का) लक्षण यथार्थ जानना है, इसलिए इसे जुदा कहा है।

सम्यक्त्व के बाद ज्ञान कहने का कारण बताते हैं ह

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।

ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥

अन्वयार्थ ह (जिनाः) जिनेन्द्रदेव (सम्यग्ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान को (कार्यं) कार्य और (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व को (कारणं) कारण (वदन्ति) कहते हैं, (तस्मात्) इसलिए (सम्यक्त्वानन्तरं) सम्यक्त्व के बाद तुरन्त ही (ज्ञानाराधनं) ज्ञान की आराधना (इष्टम्) योग्य है।

टीका ह ‘जिनाः सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति’। ह जिनदेव सम्यग्ज्ञान को तो कार्य कहते हैं और सम्यक्त्व को कारण कहते हैं।

भावार्थ ह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान पदार्थ को तो जानते थे; परन्तु सम्यक्त्व के बिना उनकी संज्ञा कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञान ही थी। जिस समय सम्यक्त्व हुआ, उसी समय उनकी मतिज्ञान-श्रुतज्ञान संज्ञा हुई। अतः ज्ञान तो था; परन्तु सम्यक्पना तो सम्यक्त्व से ही हुआ। इसलिए सम्यक्त्व तो कारणरूप है, सम्यग्ज्ञान कार्यरूप है। ‘तस्मात् सम्यक्त्वानन्तरं ज्ञानाराधनम् इष्टम्’ इसलिए सम्यक्त्व के बाद ही ज्ञानाराधना योग्य है, क्योंकि कारण से ही कार्य होता है।

प्रश्न ह कारण-कार्य तो तब कहा जाये जब आगे-पीछे हो। ये तो दोनों युगपत् हैं, फिर इनमें कारण-कार्यत्व किस तरह संभव है? इसका उत्तर आगे कहते हैं ह

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।

दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥३४॥

अन्वयार्थ ह (हि) निश्चय से (सम्यक्त्वज्ञानयोः) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों (समकालं) एक समय में (जायमानयोः अपि) उत्पन्न होने पर भी (दीपप्रकाशयोः) दीपक और प्रकाश की (इव) तरह (कारणकार्यविधानं) कारण और कार्य की विधि (सुघटम्) भले प्रकार घटित होती है।

टीका ह ‘हि सम्यक्त्वज्ञानयोः समकालं जायमानयोः अपि कारण-कार्यविधानं सुघटम्’। ह निश्चय से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही समय में उत्पन्न होते हैं तो भी उनमें कारण-कार्य का प्रकार यथार्थरूप से बनता है।

किस दृष्टान्त से? ‘दीपप्रकाशयोः इव’ ह जिसप्रकार दीपक और प्रकाश एक ही समय में प्रकट होते हैं तो भी दीपक, प्रकाश का कारण है और प्रकाश कार्य है; क्योंकि दीपक से प्रकाश होता है।

उसीप्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का कारण है, सम्यग्ज्ञान कार्य है; क्योंकि सम्यक्त्व से ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम पाता है।

इस सम्यग्ज्ञान का लक्षण कहते हैं ह

**कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु ।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥३५॥**

अन्वयार्थ ह (सदनेकान्तात्मकेषु) प्रशस्त अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभाववाले (तत्त्वेषु) तत्त्वों तथा पदार्थों में (अध्यवसायः) निर्णय (कर्त्तव्यः) करने योग्य है और (तत्) वह सम्यग्ज्ञान (संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तं) संशय, विपर्यय और विमोह रहित (आत्मरूपं) आत्मा का निजस्वरूप है ।

टीका ह 'सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु अध्यवसायः कर्त्तव्यः ।' ह अनेकान्त है स्वभाव जिनका ऐसे पदार्थों का ज्ञानपूर्वक निर्णय करना योग्य है ।

पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानने का नाम **सम्यग्ज्ञान** है । वह पदार्थ अनेकान्त स्वभाव को धारण करता है । **अनेक**=बहुत, **अन्त**=धर्म । इसप्रकार अपने अनन्तधर्म-स्वभाव को धारण करने वाले का ज्ञान अवश्य करना चाहिए ।

जो सम्यक्प्रकार से वस्तु को पहचान ले तो करोड़ों कारण मिलने पर भी अश्रद्धानी न हो । 'तत् आत्मरूपं वर्तते' ह यह सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है; क्योंकि जो यह सच्चा ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह केवलज्ञान में मिलकर शाश्वत रहेगा ।

कैसा है ज्ञान? 'संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तम्' संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय / विमोह इन तीनों भावों से रहित है ।

संशय ह विरुद्ध दो तरफा ज्ञान को संशय ज्ञान कहते हैं । जैसे रात में किसी को देखकर सन्देह हुआ कि यह पदार्थ मनुष्य जैसा भी प्रतिभासित होता है और व्यन्तर जैसा भी प्रतिभासित होता है ।

विपर्यय ह अन्यथा (विपरीत) रूप एक तरफा ज्ञान को विपर्यय ज्ञान कहते हैं, जैसे मनुष्य में व्यन्तर की प्रतीति कर लेना ।

अनध्यवसाय ह "कुछ है" इतना ही जानना हो, विशेष विचार न करे, उसे अनध्यवसाय (विमोह) कहते हैं । जैसे गमन करते समय तृण के स्पर्श का ज्ञान होना । इन तीनों भावों से रहित यथार्थ ज्ञान को **सम्यग्ज्ञान** कहते हैं ।

यहाँ घट-पटादि पदार्थों के विशेष जानने के निमित्त उद्यमी रहना नहीं बताया; अपितु संसार-मोक्ष के कारणभूत पदार्थों को यथार्थ जानने के लिए उद्यमी रहने का उपदेश दिया है ।

प्रश्न ह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के जानपने में समानता होने पर भी एक का ज्ञान सम्यक् और दूसरे का मिथ्या क्यों कहलाता है?

उत्तर ह सम्यग्दृष्टि को मूलभूत जीवादि पदार्थों का वास्तविक ज्ञान है । इसलिए जितने उत्तर पदार्थ (विशेष) जानने में आते हैं, उन सब को यथार्थरूप से साधता है । अतः सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को सम्यक् रूप कहा है ।

मिथ्यादृष्टि को मूलपदार्थों का वास्तविक ज्ञान नहीं है । इसलिए जितने उत्तर पदार्थ जानने में आते हैं, उन सबको भी अयथार्थरूप से साधता है । अतः मिथ्याज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) के ज्ञान को मिथ्यारूप कहा गया है ।

इस सम्यग्ज्ञान के अष्ट अंग कहते हैं ह

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च ।

बहुमानेन समन्वितमनिह्वं ज्ञानमाराध्यं ॥३६॥

अन्वयार्थ ह (ग्रन्थार्थोभयपूर्णं) ग्रन्थरूप (शब्दरूप), अर्थरूप और उभय अर्थात् शब्द-अर्थरूप शुद्धता से परिपूर्ण (काले) काल में अर्थात् अध्ययन काल में आराधन करने योग्य (विनयेन) मन, वचन, काय की शुद्धरूप विनय (च) और (सोपधानं) धारणायुक्त (बहुमानेन) अत्यन्त सन्मान से अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र के वन्दन, नमस्कारादि (समन्वितं) सहित तथा (अनिह्वं) विद्यागुरु को छिपाये बिना (ज्ञानं) ज्ञान की (आराध्यम्) आराधना करना योग्य है ।

टीका ह 'ज्ञानम् आराध्यम्' श्रद्धावान् पुरुषों को सम्यग्ज्ञान आराधन करने योग्य है। कैसा है ज्ञान? 'ग्रन्थार्थोभयपूर्ण' शब्दरूप है, अर्थरूप है और उभय से पूर्ण है।

भावार्थ ह सम्यग्ज्ञान के आठ अंग इस प्रकार हैं ह

१. **व्यंजनाचार** ह जहाँ मात्र शब्द के पाठ का ही जानपना हो, उसे व्यंजनार्जित (व्यंजनाचार) अंग कहते हैं।

२. **अर्थाचार** ह जहाँ केवल अर्थमात्र के प्रयोजन सहित जानपना हो, उसे अर्थसमग्र (अर्थाचार) कहते हैं।

३. **उभयाचार** ह जहाँ शब्द और अर्थ दोनों में सम्पूर्ण जानपना हो, उसे शब्दार्थ उभयपूर्ण अंग कहते हैं।

इसप्रकार यह तीन अंगों का वर्णन किया। अब ज्ञान की आराधना कब करें? सो कहते हैं ह

४. **कालाचार** ह काले = जिस काल जिस ज्ञान का विचार चाहिए, वही करना। (सूर्योदय, सूर्यास्त, मध्याह्न और मध्यरात्रि ह इनके पहले और पीछे का मुहूर्त सन्ध्याकाल है। इस काल को छोड़कर शेष चार उत्तम कालों में पठन-पाठनादिरूप स्वाध्याय करने को कालाचार कहते हैं।

चारों सन्ध्याकाल की प्रथम तथा अन्तिम दो घड़ी में तथा दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्प आदि उत्पातों के काल में सिद्धान्त ग्रन्थों का पठन-पाठन वर्जित है। हाँ, स्तोत्र-आराधना, धर्म-कथादिक के ग्रन्थ पढ़ सकते हैं।)

५. **विनयाचार** ह तथा किस रीति से ज्ञानाराधन करना? **विनयेन**= नम्रतायुक्त होना, उद्धत नहीं होना।

६. **उपधानाचार** ह तथा कैसा ज्ञानाराधन चाहिए? **सोपधानम्**= धारणा सहित ज्ञान को भूलना नहीं; उपधान सहित ज्ञान की आराधना करना छठवाँ अंग है।

७. **बहुमानाचार** ह तथा कैसा है ज्ञान? "बहुमानेन समन्वितम्" = ज्ञान की पुस्तक = शास्त्र का अथवा पढ़ानेवाले का बहुत आदर करना। इन सहित ज्ञान का आराधन करना सप्तम अंग है।

८. **अनिह्ववाचार** ह तथा कैसा है ज्ञान? "अनिह्वं" जिस शास्त्र अथवा गुरु से अपने को ज्ञान हुआ हो, उसे छिपाना नहीं चाहिए। जिसमें ज्ञान वा अपने गुरु का नाम छिपाया नहीं जाता, सो वह आठवाँ अंग है। यह आठ अंग (सम्यग्ज्ञान के विनय के) हैं। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान अंगीकार करना।

इति श्रीमद् अमृतचन्द्र सूरि विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय जिसका अपरनाम जिनप्रवचनरहस्यकोष है, उसमें सम्यग्ज्ञान वर्णन नामक दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।



सर्वज्ञदेव द्वारा कहे गये शास्त्रों का रहस्य स्वयं जानकर अन्य को उसे समझाना और भक्ति से उसका प्रचार करना, वह ज्ञानदान है। अन्तर में तो स्वयं ने स्वयं को सम्यग्ज्ञान का दान दिया तथा बाह्य में 'अन्य जीव भी ऐसा ज्ञान प्राप्त करें और भवदुःख से छूटें' ह ऐसी भावना धर्मी को होती है। शास्त्रदान के बहाने अन्य को समझाने अथवा प्रचार करने के बहाने अपनी मान-प्रतिष्ठा अथवा बड़प्पन की भावना हो तो वह पाप है; धर्मी को ऐसी भावना नहीं होती। धर्मात्मा तो कहता है कि अरे! हमारी ज्ञानचेतना ही हमारा कार्य। हमारी आत्मा तो कहता है, वहाँ बाहर अन्य को बताने का क्या काम है? अन्य जीव जाने तो उसे सन्तोष हो ह ऐसा नहीं है, उसे तो अन्तर में आत्मा से ही सन्तोष है।

ह पूज्य श्री कानजी स्वामी

श्रावकधर्म – व्याख्यान

(३)

सम्यक्चारित्र अधिकार

सम्यग्ज्ञान अंगीकार करने के पश्चात् धर्मात्मा पुरुषों को क्या करना चाहिए, वही कहते हैं ह

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः ।

नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥३७॥

अन्वयार्थ ह (विगलितदर्शनमोहैः) जिन्होंने दर्शन मोह का नाश कर दिया है, (समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः) सम्यग्ज्ञान से जिन्होंने तत्त्वार्थ को जाना है (नित्यमपि निःप्रकम्पैः) जो सदाकाल अकम्प अर्थात् दृढ़चित्त वाले हैं, ऐसे पुरुषों द्वारा (सम्यक्चारित्रं) सम्यक्चारित्र (आलम्ब्यम्) अवलम्बन करने योग्य है ।

टीका ह 'सम्यक्चारित्रम् आलम्ब्यम् ।' ह सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए । कैसे जीवों को सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए? 'विगलितदर्शनमोहैः' दर्शनमोह के नाश होने से जो तत्त्वश्रद्धानी हुए हैं और कैसे हैं? 'समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः' ह जिन्होंने सम्यग्ज्ञान से तत्त्वार्थ जाना है ।

तथा कैसे हैं? 'नित्यमपि निःप्रकम्पैः' धारण किए गए आचरण में निरन्तर निष्कम्प हैं, जो ग्रहण किए हुए आचरण को किसी भी प्रकार नहीं छोड़ते, ऐसे जीवों को सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए ।

भावार्थ ह पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करके सम्यग्ज्ञानी होकर तत्पश्चात् निश्चलवृत्ति धारण करके सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए ।

सम्यग्ज्ञान के बाद ही सम्यक्चारित्र अंगीकार करने का कारण कहते हैं ह

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।

ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥३८॥

अन्वयार्थ ह (अज्ञानपूर्वकं चरित्रं) अज्ञान सहित चारित्र (सम्यग्व्यपदेशं) सम्यक् नाम (न हि लभते) प्राप्त नहीं करता, (तस्मात्) इसलिए (ज्ञानानन्तरं) सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही (चारित्राराधनं) चारित्र का आराधन (उक्तम्) कहा गया है ।

टीका ह 'अज्ञानपूर्वकं चरित्रं सम्यग्व्यपदेशं न हि लभते' । ह

जिसके पूर्व में अज्ञानभाव हो, ऐसा चारित्र सम्यक् संज्ञा को प्राप्त नहीं होता । प्रथम यदि सम्यग्ज्ञान न हो और पापक्रिया का त्याग करके चारित्र भार धारण करे तो वह सम्यक् चारित्र नाम नहीं पाता है ।

जैसे बिना जाने औषधि का सेवन करे तो मरण ही हो, उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान रहित चारित्र का सेवन करना संसार को बढ़ाता है । जीव रहित मृत शरीर में इन्द्रियों के आकार किस काम के? उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान शून्य शरीर के वेष या क्रियाकाण्ड के साधन से शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं होती । 'तस्मात् ज्ञानानन्तरं चारित्राराधनम् उक्तम्' ह अतः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही चारित्र का आराधन करना कहा है ।

चारित्र का लक्षण ह

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।

सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥३९॥

अन्वयार्थ ह (यतः) कारण कि (तत्) वह (चारित्रं) चारित्र (समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्) समस्त पापयुक्त मन, वचन, काय के त्याग से (सकलकषायविमुक्तं) सम्पूर्ण कषाय रहित (विशदं) निर्मल (उदासीनं) परपदार्थों से विरक्तिरूप और (आत्मरूपं) आत्मस्वरूप (भवति) होता है ।

टीका ह 'यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् चारित्रं भवति' । ह समस्त पाप सहित मन, वचन, काय के योग का त्याग करने से चारित्र होता है ।

मुनि पहले सामायिक चारित्र अंगीकार करते हैं, तब ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं, 'अहं सर्वसावद्ययोगविरतोऽस्मि ।-' मैं सर्व पाप सहित योगों का त्यागी हूँ ।

कैसा है चारित्र? 'सकलकषायविमुक्तम्' समस्त कषायों का अभाव होने पर यथाख्यात चारित्र होता है ।

तथा कैसा है? 'विशदम्' ह निर्मल है । आत्मसरोवर, कषायरूपी कीचड़ से मैला था, कषाय का अभाव होने पर सहज ही निर्मलता हो गई । तथा कैसा है? 'उदासीनम्' ह पर द्रव्य से विरक्तिस्वरूप है । 'तत्त्वात्मरूपं वर्तते ।' ह वह चारित्र आत्मा का स्वरूप है ।

कषाय रहित जो आत्मा का स्वरूप प्रकट हुआ है, वही सदाकाल रहेगा; इस अपेक्षा से आत्मा का स्वरूप है, नवीन आवरण कभी भी नहीं होगा ।

सामायिक चारित्र में सकल चारित्र हुआ; परन्तु संज्वलन कषाय के सद्भाव से मलिनता नहीं गई । इसलिए जब सकल कषाय रहित हुआ, तब यथाख्यात नाम पाया, जैसा चारित्र का स्वरूप था, वैसा प्रकट हुआ ।

प्रश्न ह शुभोपयोगरूप भाव है, वह चारित्र है या नहीं?

उत्तर ह शुभोपयोग विशुद्ध परिणामों से होता है और विशुद्धता मन्दकषाय को कहते हैं । इसलिए कषायों की हीनता के कारण कथंचित् चारित्र कहलाता है ।

प्रश्न ह देव-गुरु-शास्त्र, शील, तप, संयमादि में अत्यन्त रागरूप प्रवर्तन करते हुए भी उसे मन्दकषाय कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर ह विषय-कषायादिक के राग की अपेक्षा तो वह मन्द कषाय ही है; क्योंकि उनके राग में क्रोध, मान, माया तो है ही नहीं । अब रहा प्रीतिभाव की अपेक्षा लोभकषाय; किन्तु वह भी सांसारिक प्रयोजनयुक्त नहीं है; अतः उसकी भी मन्दता है ।

यहाँ भी ज्ञानी जीव रागभाव से प्रेरित होता हुआ अशुभ राग को छोड़कर शुभ राग में प्रवर्तन करता है; किन्तु उस शुभराग को उपादेयरूप श्रद्धान नहीं करता; अपितु उसे अपने शुद्धोपयोगरूप चारित्र के लिए मलिनता का ही कारण जानता है ।

अशुभोपयोग में तो कषायों की तीव्रता हुई है; अतः वह तो किसी भी प्रकार चारित्र संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकता ।

चारित्र के भेद ह

हिंसातोऽनृतवचनात् स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।

कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०॥

अन्वयार्थ ह (हिंसातः) हिंसा से (अनृतवचनात्) असत्य भाषण से (स्तेयात्) चोरी से (अब्रह्मतः) कुशील से और (परिग्रहतः) परिग्रह से (कात्स्न्यैकदेशविरतेः) सर्वदेश और एकदेश त्याग से वह (चारित्रं) चारित्र (द्विविधम्) दो प्रकार का (जायते) होता है ।

टीका ह 'चारित्रं द्विविधं जायते' । ह चारित्र दो प्रकार से उत्पन्न होता है । किस प्रकार से? 'हिंसातः अनृतवचनात्, स्तेयात्, अब्रह्मतः परिग्रहतः कात्स्न्यैकदेशविरतेः' हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के सर्वदेश तथा एकदेश त्याग से चारित्र के दो भेद होते हैं ।

भावार्थ ह हिंसादिक का वर्णन आगे किया जा रहा है । इनके सर्वथा त्याग को सकलचारित्र और एकदेश त्याग को देशचारित्र कहते हैं ।

इन दोनों प्रकार के चारित्रों के स्वामी को बताते हैं ह

निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।

या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

अन्वयार्थ ह (कात्स्न्यनिवृत्तौ) सर्वथा सर्वदेश त्याग में (निरतः) लीन (अयं यतिः) यह मुनि (समयसारभूतः) शुद्धोपयोगरूप स्वरूप में आचरण करनेवाला (भवति) होता है (या तु एकदेशविरतिः) और जो एकदेशविरति है (तस्यां निरतः) उसमें लगा हुआ (उपासकः) उपासक अर्थात् श्रावक (भवति) होता है ।

टीका ह्व 'कात्स्न्यनिवृत्तौ निरतः अयं यतिः भवति'। ह्व (जिसके अन्तरंग में तो तीन कषाय रहित शुद्धि का बल है तथा) पाँच पाप के सर्वथा सर्वदेश त्याग में जो जीव लगा है, वह मुनि है।

'अयं समयसारभूतः' ह्व यह मुनि समयसार जो है शुद्धोपयोगरूप शुद्धात्मा, उस स्वरूप ही है। मुनि तो शुद्धोपयोग स्वरूप ही होता है, जो शुभोपयोगरूप भाव है, वह भी इस मुनि की पदवी में कालिमा समान है।

'या तु एकदेशविरतिः तस्यां निरतः उपासकः भवति'। ह्व जो पाँच पापों के कथंचित् एकदेश त्याग में लगा हुआ जीव है, वह श्रावक है।

भावार्थ ह्व सकलचारित्र का स्वामी तो मुनि है और देशचारित्र का स्वामी श्रावक है।

१. श्री ब्रह्मदवे सूरि परमात्मप्रकाश, दोहा १८५ की संस्कृत टीका
२. वही



असत्य पाप के भेद कहते हैं ह्व

“वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन हि संयुतः ।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ॥”

सम्यक्व सहित जीव का नरकवास भी भला है और सम्यक्व रहित जीव का देवलोक में निवास होना भी नहीं शोभाता। सम्यग्दर्शन के बिना देवलोक के देव भी दुःखी ही है।”

वही शास्त्र में उन्हें पापी कहा है ह्व

“सम्यक्त्वरहिताः जीवाः पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते ।”
सम्यक्त्व रहित जीव पुण्यसहित होने पर भी पापजीव कहलाते हैं।

अहिंसाणुव्रत

पाँच पाप एक हिंसास्वरूप ही हैं ह्व

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।

अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

अन्वयार्थ ह्व (आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्) आत्मा के शुद्धोपयोग-रूप परिणामों के घात होने के कारण (एतत्सर्वं) यह सब (हिंसैव) हिंसा ही है। (अनृतवचनादि) असत्य वचनादिक के भेद (केवलं) केवल (शिष्यबोधाय) शिष्यों को समझाने के लिए (उदाहृतम्) उदाहरणरूप कहे गए हैं।

टीका ह्व 'सर्वम् एतत् हिंसा एव' ह्व ये समस्त पाँचों पाप हिंसा ही हैं। किसलिए? 'आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्' आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात के कारण हैं; अतः ये सर्व हिंसा ही हैं।

प्रश्न ह्व यदि हिंसा ही हैं तो अन्य भेद क्यों कहे गए?

उत्तर ह्व 'अनृतवचनादि केवलं शिष्यबोधाय उदाहृतम्'। ह्व अनृत वचनादि के भेद मात्र शिष्य को समझाने के लिए उदाहरणरूप से कहे गए हैं। जो शिष्य हिंसा के विशेष को न जाने तो उसके लिए हिंसा के उदाहरण अनृतवचनादि कहे गए हैं। हिंसा का एक भेद अनृतवचन है, एक चोरी है - इस भाँति उदाहरणरूप जानना।

हिंसा का स्वरूप कहते हैं ह्व

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।

व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

अन्वयार्थ ह्व (कषाययोगात्) कषायरूप से परिणमित मन, वचन, काय के योग से (यत्) जो (द्रव्यभावरूपाणाम्) द्रव्य और भावरूप दो

प्रकार के (प्राणानां) प्राणों का (व्यपरोपणस्य करणं) व्यपरोपण करना - घात करना (सा) वह (खलु) निश्चय से (सुनिश्चिता) भली-भाँति निश्चित की गई (हिंसा) हिंसा (भवति) है।

टीका ह 'खलु कषाययोगात् यत् द्रव्यभावरूपाणां प्राणानां व्यपरोपणस्य करणं सा सुनिश्चिता हिंसा भवति'। ह निश्चय से कषायरूप परिणमित हुए मन, वचन, काय के योग के हेतु से द्रव्य-भावरूप दो प्रकार के प्राणों को पीड़न करना - घात करना, निश्चय से हिंसा है।

भावार्थ ह अपने मन में, वचन में या शरीर में क्रोध कषाय प्रकट होने पर उससे प्रथम तो अपने शुद्धोपयोगरूप भावप्राण का घात हुआ। यह हिंसा तो अपने भावप्राण के व्यपरोपण होने के कारण पहले ही हो गई, दूसरी हिंसा तो हो अथवा न भी हो।

पश्चात् कदाचित् तीव्रकषायरूप होने पर अपने दीर्घ श्वासादिक से अथवा हाथ-पैर से अपने अंग को पीड़ा उत्पन्न करे या अपघात करके मर जाये, तो इसमें अपने द्रव्यप्राण के घातरूप हिंसा हुई।

यदि कषाय से अन्यजीव को कुवचन कहा, मर्मभेदी हास्य किया या ऐसा कार्य किया, जिससे उसका अन्तरंग पीड़ित होकर कषायरूप परिणाम हो जायें, तो पर के भावप्राण के व्यपरोपण से हिंसा होती है।

जहाँ कषाय के वशीभूत होकर प्रमादी हुआ अन्य जीव के शरीर को पीड़ा पहुँचाई अथवा प्राणनाश किया, वहाँ पर के द्रव्यप्राण के घात से हिंसा हुई। इसप्रकार हिंसा का स्वरूप कहा।

निश्चय से हिंसा और अहिंसा का लक्षण कहते हैं ह

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

अन्वयार्थ ह (खलु) निश्चय से (रागादीनां) रागादि भावों का (अप्रादुर्भावः) प्रकट न होना (इति) यही (अहिंसा) अहिंसा (भवति)

है और (तेषाम् एव) उन रागादि भावों का (उत्पत्तिः) उत्पन्न होना ही (हिंसा) हिंसा (भवति) है, (इति) ऐसा (जिनागमस्य) जैन सिद्धान्त का (संक्षेपः) सार ह निचोड़ है।

टीका ह 'खलु रागादीनाम् अप्रादुर्भावः इति अहिंसा भवति।' ह निश्चय से रागादि भावों की उत्पत्ति न होना, इतनी मात्र ही अहिंसा है।

अपने शुद्धोपयोगरूप प्राणों का घात रागादि भावों से होता है। इसलिए रागादि भावों का अभाव होना ही अहिंसा है। आदि शब्द से राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय जुगुप्सा, प्रमादादि समस्त विभाव भाव जानना चाहिए।

इनके लक्षण कहते हैं - अपने को कोई (पदार्थ) इष्ट जानकर प्रीतिरूप परिणाम का होना राग है। अपने को अनिष्ट जानकर अप्रीतिरूप परिणाम का होना द्वेष है। पर द्रव्य में एकत्व-ममत्वरूप परिणाम होना मोह है।

मैथुनरूप परिणाम काम है। इसने अनुचित किया - ऐसा जानकर पर को दुःखदायक परिणाम क्रोध है। दूसरे से अपने को बड़ा मानना मान है। मन-वचन-काय में एकता का अभाव माया है। पर द्रव्य के साथ सम्बन्ध करने की इच्छारूप परिणाम लोभ है। भली-बुरी चेष्टा देखकर विकसितरूप परिणाम हास्य है। अपने इष्ट का अभाव होने पर आर्तरूप परिणाम शोक है।

अपने को दुःखदायक जानकर हटनेरूप परिणाम ही भय है। ग्लानि-रूप परिणाम जुगुप्सा है। कल्याणकारी कार्य में अनादर करना प्रमाद है।

इत्यादि समस्त विभाव भाव हिंसा की पर्यायें हैं, इनका न होना ही अहिंसा है। 'तेषाम् एव उत्पत्तिः हिंसा' - उन रागादि भावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है। 'इति जिनागमस्य संक्षेपः' ह ऐसा जैन सिद्धान्त का (सार) रहस्य है।

भावार्थ ह जैन सिद्धान्त का विस्तार बहुत है; परन्तु संक्षेप में इतना ही है कि धर्म का लक्षण अहिंसा है और रागादिभावों का अभाव होना ही अहिंसा है। इसलिए जैसे बन सके, वैसे तथा जितना बन सके, उतना (स्वसन्मुखता द्वारा) रागादि भावों का नाश करना चाहिए।

वही अन्य ग्रन्थों में कहा है ह

रागादीणामणुप्पा अहिंसा गतेति देसिदं समये ।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणेहिं णिदिट्ठं ॥

प्रश्न ह हिंसा का लक्षण पर-जीव के प्राणों को पीड़ा पहुँचाना क्यों नहीं कहा?

उत्तर ह क्योंकि इस लक्षण में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष लगते हैं ।

वहाँ प्रथम ही अतिव्याप्ति दोष बताते हैं ह

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।

न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

अन्वयार्थ ह (अपि) और (युक्ताचरणस्य) योग्य आचरणवाले (सतः) सन्त पुरुष के (रागाद्यावेशमन्तरेण) रागादि भावों के बिना (प्राणव्यपरोपणात्) केवल प्राण-पीड़न से (हिंसा) हिंसा (जातु एव) कभी भी (न हि) नहीं (भवति) होती ।

टीका ह 'अपि युक्ताचरणस्य सतः रागाद्यावेशमन्तरेण प्राणव्य-परोपणात् एव जातु हिंसा न हि भवति' । ह

निश्चय से जिनका आचरण, योग्य प्रयत्न पूर्वक है; ऐसे सन्त पुरुषों को रागादि भावों के प्रवेश बिना केवल पर जीव के प्राण-पीड़न करने मात्र से ही कदाचित् हिंसा नहीं होती ।

भावार्थ ह महापुरुष ध्यान में लीन हैं अथवा गमनादि में सावधानी से यत्नपूर्वक प्रवर्तन कर रहे हैं और कदाचित् उनके शरीर के सम्बन्ध से किसी जीव के प्राणों को पीड़ा पहुँच गई तो भी उनके हिंसा का दोष नहीं है, कारण कि उनके परिणाम में कषाय भाव नहीं था । इसलिए पर जीव के प्राणों को पीड़ा होने पर भी हिंसा नहीं कहलाती । अतः अतिव्याप्ति दोष लगता है ।

अव्याप्ति दोष बताते हैं ह

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।

प्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥

अन्वयार्थ ह (रागादीनां) रागादिभावों के (वशप्रवृत्तायां) वश में प्रवर्तती हुई (व्युत्थानावस्थायां) अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्था में (जीवः) जीव (प्रियतां) मरे (वा) अथवा (मा प्रियतां) न मरे (हिंसा) हिंसा तो (ध्रुवं) निश्चय से (अग्रे) आगे ही (धावति) दौड़ती है ।

टीका ह 'रागादीनां वशप्रवृत्तायां व्युत्थानावस्थायां जीवः प्रियतां वा मा प्रियतां हिंसा अग्रे ध्रुवं धावति' । ह

रागादि प्रमादभावों के वशीभूत होकर उठने-बैठने आदिरूप क्रिया में जीव मरे अथवा न मरे, किन्तु हिंसा तो निश्चय से आगे दौड़ती है ।

भावार्थ ह जो प्रमादी जीव कषाय के वश होकर गमनादि क्रिया में यत्नरूप प्रवर्तन नहीं करते अथवा उठते-बैठते क्रोधादि भावरूप परिणामन करते हैं तो वहाँ जीव कदाचित् मरे या न मरे; परन्तु इसे तो कषाय भाव से अवश्य हिंसा का दोष लगता है । अर्थात् पर जीव के प्राण को पीड़ा न होते हुए भी प्रमाद के सद्भाव से हिंसा कही जाती है, इसलिए उस लक्षण में अव्याप्ति दोष लगता है ।

प्रश्न -हिंसा का अर्थ तो घात करना है, पर जीव के प्राण का घात किये बिना हिंसा कैसे कही जा सकती है? इसका उत्तर कहते हैं ह

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।

पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥४७॥

अन्वयार्थ ह (यस्मात्) कारण कि (आत्मा) जीव (सकषायः सन्) कषायभाव युक्त होने से (प्रथमं) प्रथम (आत्मना) अपने से ही (आत्मानं) अपने को (हन्ति) घात करता है (तु) और (पश्चात्) पीछे से भले ही (प्राण्यन्तराणां) दूसरे जीवों की (हिंसा) हिंसा (जायेत) हो (वा) अथवा (न) न हो ।

टीका ह 'यस्मात् सकषायः सन् आत्मा प्रथमम् आत्मना आत्मानं हन्ति तु पश्चात् प्राण्यन्तराणां हिंसा जायेत न वा' । ह

कारण कि कषायभावयुक्त हुआ आत्मा पहले अपने द्वारा ही अपना घात करता है, पश्चात् अन्य जीवों का घात हो अथवा न हो।

भावार्थ ह्य हिंसा तो घात को ही कहते हैं; परन्तु घात दो प्रकार का है ह्य एक आत्मघात और दूसरा परघात। जब इस आत्मा ने कषाय भावों से परिणमन करके अपना बुरा किया, तब आत्मघात तो पहले ही हो गया। तत्पश्चात् अन्य जीव का आयुष्य पूरा हो गया हो अथवा पाप का उदय हो तो उसका भी घात हो जाये।

यदि उसकी आयु पूरी न हुई हो अथवा उसके पाप का उदय न हो तो उसका घात कौन कर सकता है? कारण कि उसका घात तो उसके कर्माधीन है, इसके तो अपने भावों का दोष है। इसप्रकार प्रमाद सहित योग में आत्मघात की अपेक्षा तो हिंसा हो ही गई।

परघात की अपेक्षा भी हिंसा का सद्भाव बताते हैं ह्य

हिंसाया अविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।

तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥४८॥

अन्वयार्थ ह्य (हिंसायाः) हिंसा से (अविरमणं) विरक्त न होने से (हिंसा) हिंसा होती है और (परिणमनं) हिंसारूप परिणमन करने से (अपि) भी (हिंसा) हिंसा (भवति) होती है, (तस्मात्) इसलिए (प्रमत्तयोगे) प्रमाद के योग में (नित्यं) निरन्तर (प्राणव्यपरोपणं) प्राणघात का सद्भाव है।

टीका ह्य 'हिंसायाः अविरमणं हिंसा, परिणमनम् अपि भवति हिंसा' ह्य

हिंसा के त्यागभाव का अभाव हिंसा है और हिंसारूप परिणमन करने से भी हिंसा होती है।

पर जीव के घातरूप हिंसा दो प्रकार की है ह्य एक अविरमणरूप और एक परिणमनरूप।

भावार्थ ह्य १. अविरमणरूप हिंसा ह्य जिस काल जीव, पर जीव के घात में तो प्रवर्तन न कर रहा हो, अपितु किसी अन्य कार्य में प्रवर्त रहा हो; परन्तु हिंसा का त्याग न किया हो ह्य

उसका उदाहरण ह्य जैसे किसी के हरितकाय का त्याग नहीं है और वह किसी समय हरितकाय का भक्षण भी नहीं करता है, वैसे ही किसी के हिंसा का त्याग तो नहीं है और वह किसी समय हिंसा में प्रवर्तन भी नहीं करता; परन्तु अन्तरंग में हिंसा करने के अस्तित्वभाव का नाश नहीं किया, इसको अविरमणरूप हिंसा कहते हैं।

२. परिणमनरूप हिंसा ह्य जिस समय जीव, पर जीव के घात में मन से, वचन से अथवा काय से प्रवर्तन करे, उसे परिणमनरूप हिंसा कहते हैं।

यहाँ हिंसा के दो भेद कहे। इन दोनों भेदों में प्रमाद सहित योग का अस्तित्व है। 'तस्मात् प्रमत्तयोगे नित्यं प्राणव्यपरोपणम्'। ह्य इसलिए प्रमाद सहित योग में सदाकाल पर जीव की अपेक्षा भी प्राणघात का सद्भाव आया। इसका अभाव तो तभी हो सकता है, जब यह जीव पर हिंसा का त्याग करके प्रमादरूप न परिणामे। जबतक प्रमाद पाया जाता है, तबतक हिंसा का अभाव तो किसी भी प्रकार नहीं हो सकता।

प्रश्न - यदि अपने प्रमादरूप परिणामों से ही हिंसा उत्पन्न होती है तो बाह्य परिग्रहादि का त्याग किसलिए कराया जाता है?

उसका उत्तर आगे कहते हैं ह्य

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवतिपुंसः।

हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥४९॥

अन्वयार्थ ह्य (खलु) निश्चय से (पुंसः) आत्मा के (परवस्तु-निबन्धना) परवस्तु के कारण से उत्पन्न हो - ऐसी (सूक्ष्महिंसा अपि) सूक्ष्म हिंसा भी (न भवति) नहीं होती, (तदपि) तो भी (परिणामविशुद्धये) परिणामों की निर्मलता के लिए (हिंसायतननिवृत्तिः) हिंसा के स्थानरूप परिग्रहादि का त्याग (कार्या) करना उचित है।

टीका ह्य 'खलु पुंसः परवस्तुनिबन्धना सूक्ष्मापि हिंसा न भवति' ह्य

निश्चय से आत्मा के पर वस्तु के कारण से उत्पन्न हो - ऐसी रंचमात्र भी हिंसा नहीं होती।

परिणामों की अशुद्धता के बिना पर वस्तु के निमित्त से अंशमात्र भी हिंसा का दोष नहीं लगता। यद्यपि निश्चय से तो ऐसा ही है, 'तदपि परिणामविशुद्धये हिंसायतननिवृत्तिः कार्या'। ह

तथापि परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के स्थानरूप परिग्रहादि का त्याग अवश्य करना चाहिए।

भावार्थ ह जो भी परिणाम होता है, वह किसी वस्तु का अवलम्बन पाकर ही होता है। यदि सुभट की माता के सुभट पुत्र विद्यमान हो, तब तो ऐसे परिणाम होते हैं कि 'मैं सुभट को मारूँ;' परन्तु जो बाँझ है और जिसके पुत्र ही नहीं है तो ऐसे परिणाम कैसे उत्पन्न हो सकते हैं कि 'मैं वन्ध्या के पुत्र को मारूँ'।

इसलिए यदि बाह्य परिग्रहादि का निमित्त हो, तब तो उनका अवलम्बन पाकर कषायरूप परिणाम होते हैं; परन्तु यदि परिग्रहादि का त्याग कर दिया हो, तब निमित्त के बिना - अवलम्बन के बिना किस तरह परिणाम उत्पन्न हों? अतः अपने परिणामों की शुद्धता के लिए बाह्य कारणरूप परिग्रहादि का त्याग भी करना चाहिए।

एक पक्षवाले का निषेध करते हैं ह

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।

नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः ॥५० ॥

अन्वयार्थ ह (यः) जो जीव (निश्चयं) यथार्थ निश्चय स्वरूप को (अबुध्यमानः) न जानकर (तम् एव) उसे ही (निश्चयतः) निश्चय श्रद्धा से (संश्रयते) अंगीकार करता है, (सः) वह (बालः) मूर्ख (बहिः-करणालसः) बाह्य क्रिया में आलसी है और (करणचरणं) बाह्य क्रियारूप आचरण का (नाशयति) नाश करता है।

टीका ह 'यः निश्चयम् अबुध्यमानः निश्चयतः तम् एव संश्रयते सः बालः करणचरणं नाशयति'। ह

जो जीव निश्चय के यथार्थ स्वरूप को तो जानते नहीं और बिना जाने मात्र निश्चय के श्रद्धान से अन्तरंग हिंसा को ही हिंसा जानकर अंगीकार करते हैं, वे अज्ञानी दया के आचरण को नष्ट करते हैं।

जो कोई केवल निश्चय का श्रद्धानी होकर यह कहता है कि 'यदि मैं परिग्रहादि रखूँ अथवा भ्रष्टाचाररूप प्रवर्तन करूँ तो इससे क्या हुआ? मेरे परिणाम ठीक होने चाहिए' ह ऐसा कहकर जो स्वच्छन्द प्रवर्तन करता है, उस जीव ने दया के आचरण का नाश किया। वह बाह्य में तो निर्दय हुआ ही तथा अन्तरंग निमित्त पाकर परिणाम अशुद्ध होते ही होते हैं, इसलिए अन्तरंग की अपेक्षा भी निर्दय हुआ।

कैसा है वह जीव? 'बहिः करणालसः' - बाह्य क्रिया में आलसी है। (बाह्य द्रव्यरूप अन्य जीव की दया में आलसी है, प्रमादी है)

इसी सूत्र का अन्य प्रकार से भी अर्थ करते हैं ह 'यः निश्चयं अबुध्यमानः तम् एव निश्चयतः संश्रयते सः बालः करुणा आचरणं नाशयति'। ह जो जीव निश्चय के स्वरूप को न जानकर व्यवहाररूप बाह्य परिग्रहादि के त्याग को ही निश्चय से मोक्षमार्ग जानकर अंगीकार करता है, वह जीव शुद्धोपयोरूप आत्मा की दया का नाश करता है।

जो जीव निश्चयनय के स्वरूप को तो जानता नहीं और केवल व्यवहारमात्र बाह्य परिग्रहादि का त्याग करता है, उपवासादिक को अंगीकार करता है, इसप्रकार बाह्य वस्तु में आलसी होकर, हेय-उपादेय बुद्धि से प्रवर्तन करता है, वह जीव अपने स्वरूप अनुभवरूप शुद्धोपयोगमय अहिंसा धर्म का नाश करता है।

कैसा है वह जीव? 'बहिः करुणालसः' उद्यम से उसने अशुभोपयोग का तो त्याग किया है, परन्तु बाह्य पर जीव की दयारूप धर्म के साधन में ही आलसी होकर बैठा है और शुद्धोपयोग भूमिका में चढ़ने का उद्यम नहीं करता। इसप्रकार एकान्तपक्षवाले का निषेध किया।

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न प्रकार के भंग बताते हैं, उसके आठ सूत्र कहते हैं ह (प्रथम सूत्र)

अविधायपि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः ।

कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥५१॥

अन्वयार्थ ह (हि) निश्चय से (एकः) एक जीव (हिंसा) हिंसा (अविधाय अपि) न करते हुए भी (हिंसाफलभाजनं) हिंसा के फल को भोगने का पात्र (भवति) बनता है और (अपरः) दूसरा (हिंसा कृत्वा अपि) हिंसा करके भी (हिंसाफलभाजनं) हिंसा के फल को भोगने का पात्र (न स्यात्) नहीं होता ।

टीका ह 'हि एकः हिंसा अविधाय अपि हिंसाफलभाजनं भवति' ह निश्चय से कोई एक जीव हिंसा न करने पर भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र बनता है ।

भावार्थ ह किसी जीव ने बाह्य हिंसा तो नहीं की है; परन्तु प्रमादभावरूप से परिणमन किया है, इसकारण वह जीव उदयकाल में हिंसा के फल को भोगता है । 'अपरः हिंसा कृत्वा अपि हिंसाफलभाजनं न स्यात्' । ह दूसरा कोई जीव हिंसा करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता ।

किसी जीव ने शरीर सम्बन्ध से बाह्य हिंसा तो उत्पन्न की है; परन्तु प्रमादभावरूप परिणमन नहीं किया; अतः वह जीव हिंसा के फल का भोक्ता नहीं होता ।

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा का दूसरा सूत्र ह

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।

अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥५२॥

अन्वयार्थ ह (एकस्य) एक जीव को तो (अल्पा) थोड़ी (हिंसा) हिंसा (काले) उदयकाल में (अनल्पम्) बहुत (फलं) फल को (ददाति) देती है और (अन्यस्य) दूसरे जीव को (महाहिंसा) महान हिंसा भी (परिपाके) उदयकाल में (स्वल्पफला) अत्यन्त थोड़ा फल देनेवाली (भवति) होती है ।

टीका ह 'एकस्य अल्पा हिंसा काले अनल्पं फलं ददाति' । ह

किसी एक जीव को थोड़ी ही हिंसा उदयकाल में बहुत फल देती है ।

भावार्थ ह किसी जीव ने बाह्य हिंसा तो थोड़ी ही की; परन्तु प्रमादी होकर कषायरूप बहुत परिणमन किया; इसलिए उदयकाल में हिंसा का फल बहुत पाता है । 'अन्यस्य महाहिंसा परिपाके स्वल्पफला भवति' । ह अन्य किसी जीव को बड़ी हिंसा उदयकाल में थोड़े फल को देनेवाली होती है ।

किसी जीव ने कारणवश बाह्य हिंसा तो बहुत की; परन्तु उस क्रिया में उदासीन रहा, कषाय थोड़ी की । इसलिए उदयकाल में हिंसा का फल भी थोड़ा ही प्राप्त करता है ।

द्रव्यहिंसा-भावहिंसा का तीसरा सूत्र ह

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य ।

व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥५३॥

अन्वयार्थ ह (सहकारिणोः अपि हिंसा) एक साथ मिलकर की हुई हिंसा भी (अत्र) इस (फलकाले) उदयकाल में (वैचित्र्यम्) विचित्रता को (व्रजति) प्राप्त होती है और (एकस्य) किसी एक को (सा एव) वही हिंसा (तीव्रं) तीव्र (फलं) फल (दिशति) दिखलाती है और (अन्यस्य) किसी दूसरे को (सा एव) वही (हिंसा) हिंसा (मन्दम्) तुच्छ फल देती है ।

टीका ह 'सहकारिणोः अपि हिंसा अत्र फलकाले वैचित्र्यं व्रजति' ह दो पुरुषों के द्वारा एक साथ मिलकर की गई हिंसा फल के समय विचित्र रूप ह अनेक प्रकारता को प्राप्त होती है, वही कहते हैं ।

'एकस्य सा एव तीव्रं दिशति' । ह एक पुरुष को तो वही हिंसा तीव्र फल को देती है, 'अन्यस्य सा एव मन्दं फलं दिशति' । ह दूसरे जीव को वही हिंसा मन्दफल देती है ।

भावार्थ ह्म दो पुरुषों ने बाह्य हिंसा तो बराबर (एक सी) की; परन्तु उस कार्य में जिसने तीव्रकषाय से हिंसा की, उसकी आसक्ति अधिक होने से उदयकाल में तीव्रफल होता है, जिसके मन्दकषाय से आसक्ति विशेष नहीं हुई, उसे उदयकाल में मन्दफल प्राप्त होता है।

द्रव्यहिंसा-भावहिंसा का चौथा सूत्र ह्म

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि।

आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥५४॥

अन्वयार्थ ह्म (हिंसा) कोई हिंसा (प्राक् एव) पहले ही (फलति) फल देती है, कोई (क्रियमाणा) करते-करते (फलति) फल देती है, कोई (कृता अपि) कर लेने के बाद (फलति) फल देती है (च) और कोई (कर्तुम् आरभ्य) हिंसा करने का आरम्भ करके (अकृता अपि) न किये जाने पर भी (फलति) फल देती है। इसी कारण (हिंसा) हिंसा (अनुभावेन) कषायभाव के अनुसार ही (फलति) फल देती है।

टीका ह्म 'च हिंसा प्राक् एव फलति'। ह्म कोई हिंसा पहले फल देती है। किसी जीव ने हिंसा का विचार किया था, परन्तु वह तो नहीं बन सकी; किन्तु उस विचार से जो कर्म बाँधा था, उसका फल उदय में आया; तत्पश्चात् हिंसा का जो विचार किया था, वह कार्य भी बाह्य में बन गया। इसतरह हिंसा पहले ही फल देती है।

'क्रियमाणा फलति'। ह्म तथा कोई हिंसा करते समय ही फल देती है। किसी ने हिंसा का विचार किया और उससे जो कर्मबन्ध किया, वह कर्म जिससमय उदय में आया, उसी समय विचारानुसार बाह्य हिंसा बन गई ह्म इसतरह हिंसा करते हुए ही उसका फल प्राप्त होता है।

'कृता अपि च फलति'। ह्म तथा कोई हिंसा करने के बाद फल देती है। किसी ने हिंसा का विचार किया और विचारानुसार बाह्य हिंसा भी कर ली; परन्तु उसका फल बाद में उदय में आया - इस भाँति कर लेने के बाद में हिंसा फलित हुई।

'हिंसा कर्तुम् आरभ्य अपि फलति'। ह्म किसी ने हिंसा करने की शुरुआत की; परन्तु बाद में नहीं की तो भी वह फलित होगी। कोई जीव हिंसा का विचार करके हिंसा करने में उद्यमी हुआ; किन्तु बाद में कारणवश हिंसा नहीं की। ऐसी हिंसा भी फल देती है।

इसप्रकार फल होने का कारण कहते हैं। 'अनुभावेन' ह्म कषायभाव के अनुसार फल होता है। यही पद अगले सूत्रों में भी 'देहली दीपक न्याय' की तरह सर्वत्र जान लेना, इसलिए मध्य में कहा है।

द्रव्यहिंसा-भावहिंसा का पाँचवा सूत्र ह्म

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।

बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः ॥५५॥

अन्वयार्थ ह्म (एकः) एक पुरुष (हिंसां) हिंसा (करोति) करता है, परन्तु (फलभागिनः) फल भोगने वाले (बहवः) बहुत (भवन्ति) होते हैं। इसीतरह (हिंसां) हिंसा (बहवः) अनेक पुरुष (विदधति) करते हैं; परन्तु (हिंसाफलभुक्) हिंसा का फल भोगने वाला (एकः) एक ही पुरुष (भवति) होता है।

टीका ह्म 'हिंसां एकः करोति फलभागिनः बहवः भवन्ति'। ह्म कहीं हिंसा तो एक पुरुष करता है और फल के भोक्ता अनेक होते हैं।

उसका उदाहरण ह्म चोर को (फाँसी की सजा में) मारता तो एक चाण्डाल ही है; परन्तु सभी दर्शक रौद्र परिणाम करके पाप के भोक्ता होते हैं।

'हिंसां बहवः विदधति एकः हिंसाफलभुक् भवति'। ह्म कहीं हिंसा तो बहुत पुरुष करते हैं; परन्तु हिंसा के फल का भोक्ता एक ही पुरुष होता है।

उसका उदाहरण ह्म संग्राम में हिंसा तो बहुत पुरुष करते हैं; परन्तु राजा स्वामित्व बुद्धि से उस हिंसा का प्रेरक होता है, अतः वही सर्व हिंसा के फल का भोक्ता होता है।

द्रव्यहिंसा-भावहिंसा का छठवाँ सूत्र ह्म

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।

अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलं ॥५६॥

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे ।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥५७॥

अन्वयार्थं ह्य (कस्य अपि) किसी पुरुष को तो (हिंसा) हिंसा (फलकाले) उदयकाल में (एकम् एव) एक ही (हिंसाफलं) हिंसा का फल (दिशति) देती है और (अन्यस्य) दूसरे किसी पुरुष को (सा एव) वही (हिंसा) हिंसा (विपुलं) बहुत (अहिंसाफलं) अहिंसा का फल (दिशति) देती है (तु अपरस्य) और अन्य किसी को (अहिंसा) अहिंसा (परिणामे) उदयकाल में (हिंसाफलं) हिंसा का फल (ददाति) देती है (तु पुनः) तथा (इतरस्य) दूसरे किसी को (हिंसा) हिंसा (अहिंसाफलं) अहिंसा का फल (दिशति) देती है, (न अन्यत्) अन्य नहीं ।

टीका ह्य 'तु अपरस्य अहिंसा परिणामे हिंसाफलं ददाति' । ह्य

किसी जीव को अहिंसा, उदय के परिणाम में हिंसा का फल देती है ।

किसी जीव को अन्तरंग में तो किसी जीव का बुरा करने का परिणाम है; परन्तु बाह्य में उसे विश्वास दिलाने के लिए भला करता है अथवा बुरा करे तो भी उसके पुण्य के उदय से इसके निमित्त से उसका भला हो जाता है । वहाँ बाह्य में तो उसकी दया की; परन्तु अन्तरंग में हिंसा के परिणाम होने से हिंसा के फल को पाता है ।

पुनः 'इतरस्य हिंसा अहिंसाफलं दिशति अन्यत् न' । ह्य अन्य किसी जीव को हिंसा, अहिंसा के फल को देती है, अन्य फल नहीं ।

किसी के अन्तरंग में दयाभाव है और वह यत्नपूर्वक किसी दुखी जीव को देखकर उसके दुख निवारण में प्रयत्नवान है । फिर भी यदि उसे तत्काल कष्ट हो जाये अथवा यत्न करते हुए भी इसके निमित्त से उस दुःखी जीव का प्राणघात हो जाये, वहाँ यद्यपि बाह्य में तो उसकी हिंसा (ही) हुई; परन्तु अन्तरंग परिणाम से वह अहिंसा के फल को प्राप्त करता है ।

द्रव्यहिंसा-भावहिंसा समझाने में नयसमूह के ज्ञाता गुरु ही समर्थ हैं, यह सातवाँ सूत्र ह्य

इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ॥५८॥

अन्वयार्थं ह्य (इति) इसप्रकार (सुदुस्तरे) अत्यन्त कठिनता से पार हो सकनेवाले (विविधभङ्गगहने) अनेक प्रकार के भंगों से युक्त गहन वन में (मार्गमूढदृष्टीनाम्) मार्ग भूले हुए पुरुष को (प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः) अनेक प्रकार के नयसमूह के ज्ञाता (गुरवः) श्रीगुरु ही (शरणं) शरण (भवन्ति) होते हैं ।

टीका ह्य 'इति सुदुस्तरे विविधभङ्गगहने मार्गमूढदृष्टीनां गुरवः शरणं भवन्ति' । ह्य इसप्रकार सुगमपने जिसका पार नहीं पाया जा सकता, ऐसे अनेक प्रकार के भंगरूप गहन वन में सत्यश्रद्धानस्वरूप मार्ग में जिसकी दृष्टि भ्रमित हो गई है, उसके लिए श्रीगुरु ही शरण हैं; उनके द्वारा ही सत्यमार्ग का स्वरूप जाना जा सकता है ।

'कैसे हैं श्रीगुरु? 'प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः'ह्य जिन्होंने अनेक प्रकार के नयसमूह का प्रवर्तन जाना है और सर्व नयों को समझाने में समर्थ हैं ।

नयसमूह में मूढ पुरुष हिंसा अहिंसा का स्वरूप नहीं समझ पाते, यह आठवाँ सूत्र ह्य

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम् ।

खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥५९॥

अन्वयार्थं ह्य (जिनवरस्य) जिनेन्द्र भगवान का (अत्यन्तनिशितधारं) अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला और (दुरासदं) दुःसाध्य (नयचक्रं) नयचक्र (धार्यमाणं) धारण करने पर (दुर्विदग्धानां) मिथ्याज्ञानी पुरुषों के (मूर्धानं) मस्तक को (झटिति) तुरन्त ही (खण्डयति) खण्ड-खण्ड कर देता है ।

भावार्थं ह्य जैनमत का नयभेद समझना अत्यन्त कठिन है । जो कोई मूढ पुरुष बिना समझे नयचक्र में प्रवेश करता है, वह लाभ के बदले हानि उठाता है । इसप्रकार हिंसा के भंग कहे ।

हिंसा के त्याग का उपदेश देते हैं ह्य

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन ।

नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥६०॥

अन्वयार्थ ह्य (नित्यं) निरन्तर (अवगूहमानैः) संवर में उद्यमी पुरुषों को (तत्त्वेन) यथार्थ रीति से (हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि) हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल (अवबुध्य) जानकर (निजशक्त्या) अपनी शक्ति प्रमाण (हिंसा) हिंसा (त्यज्यतां) छोड़नी चाहिए।

टीका ह्य 'नित्यम् अवगूहमानैः निजशक्त्या हिंसा त्यज्यताम्'। ह्य संवर में उद्यमी जीवों को सदैव अपनी शक्ति से हिंसा का त्याग करना चाहिए। जितनी हिंसा छूट सके, उतनी छोड़ना चाहिए।

किस प्रकार? 'तत्त्वेन हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि अवबुध्य'ह्य यथार्थरीति से हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल ह्य इन चार भावों को जानकर हिंसा का त्याग करना उचित है। इन्हें जाने बिना त्याग होता नहीं है और यदि किया भी गया हो तो कार्यकारी नहीं है।

उन चारों का स्वरूप कहते हैं ह्य

भावार्थ ह्य १. हिंस्य ह्य जिसकी हिंसा हो, उसे हिंस्य कहते हैं। अपने भावप्राण अथवा द्रव्यप्राण तथा परजीव के भावप्राण या द्रव्यप्राण ये हिंस्य के भेद हैं। अथवा एकेन्द्रियादि जीवसमास के भेद जानना। अथवा जहाँ-जहाँ जीव के उत्पन्न होने के स्थान हैं, वह जानना चाहिए। उनका यथास्थान वर्णन होता ही है।

२. हिंसक ह्य हिंसा करनेवाले जीव को हिंसक कहते हैं। वहाँ प्रमादभावरूप से परिणामन करनेवाले अथवा अयत्नाचार में प्रवर्तन करनेवाले जीव को हिंसक जानना।

३. हिंसा ह्य हिंस्य को पीड़ा पहुँचाना अथवा उसका घात करना हिंसा है। उसका वर्णन पहले कर चुके हैं।

४. हिंसाफल ह्य हिंसा से जो कुछ फल प्राप्त हो, उसे हिंसाफल कहते हैं। इस लोक में तो हिंसक जीव निन्दा पाते हैं, राजा द्वारा दण्ड प्राप्त करते हैं। जिसकी यह हिंसा करना चाहता है; यदि उसका वश चले तो वही इसका घात कर डालता है तथा परलोक में नरकादि गति पाता है।

वहाँ नाना प्रकार के छेदन-भेदनादि शारीरिक तथा अनेक प्रकार के मानसिक कष्ट भोगता है। (नरक का वर्णन कोई कहाँ तक लिखे? सर्व दुःखों का समुदाय ही है।) तिर्यचादि का दुःख प्रत्यक्ष ही प्रतिभासित होता है। यह सब हिंसा का फल है। इसप्रकार ह्य

१. हिंस्य को जानकर (स्वयं ही) उसका घात न करे।

२. हिंसक को जानकर स्वयं वैसा न बने।

३. हिंसा को जानकर उसका त्याग करे।

४. हिंसा का फल जानकर उससे भयभीत रहे।

इसलिए ये चार भेद जानने चाहिए।

जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं, उन्हें प्रथम क्या करना चाहिए, वह कहते हैं ह्य

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।

हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

अन्वयार्थ ह्य (हिंसाव्युपरतिकामैः) हिंसा के त्याग के इच्छुक पुरुषों को (प्रथमम् एव) प्रथम ही (यत्नेन) यत्नपूर्वक (मद्यं) शराब, (मांसं) मांस, (क्षौद्रं) मधु (शहद) और (पञ्चोदुम्बरफलानि) पाँच उदुम्बर फल* (मोक्तव्यानि) छोड़ देना चाहिए।

टीका ह्य 'हिंसाव्युपरतिकामैः प्रथमम् एव यत्नेन मद्यं, मांसं, क्षौद्रं, पञ्च उदुम्बरफलानि मोक्तव्यानि'। ह्य

जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं, उन्हें प्रथम ही यत्नपूर्वक मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बरफल ह्य ये आठ वस्तुएँ त्याग करने योग्य हैं।

वहाँ प्रथम ही मद्य के दोष को कहते हैं ह्य

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।

विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥६२॥

* पाँच उदुम्बर फलों के नाम ह्य बड़, पीपल अर्थात् गूलरके फल, पाकर, ऊमर, कटूमर (फणस) के फल (अंजीर भी ऊमर फल में या कटूमर में समझना)।

अन्वयार्थ ह (मद्यं) मदिरा (मनः मोहयति) मन को मोहित करती है और (मोहितचित्तः) मोहितचित्त पुरुष (तु) तो (धर्मम्) धर्म को (विस्मरति) भूल जाता है तथा (विस्मृतधर्मा) धर्म को भूला हुआ (जीवः) जीव (अविशङ्कम्) निःशंक - निडर होकर (हिंसां) हिंसा का (आचरति) आचरण करता है।

टीका ह 'मद्यं मनः मोहयति' ह मदिरा मन को मोहित करती है। मदिरा पीने के बाद कुछ होश नहीं रहता। 'तु मोहितचित्तः धर्म विस्मरति।' ह और मोहित चित्तवाला मनुष्य धर्म को भूल जाता है। खबर बिना धर्म को कौन संभाले? 'विस्मृतधर्मा जीवः अविशङ्कम् हिंसा आचरति।' ह धर्म को भूला हुआ जीव निःशंक होकर बेधड़क हिंसा का आचरण करता है। धर्म की खबर न होने से हिंसा करने में किसका डर करे? इसलिए मदिरा हिंसा का साक्षात् एवं परम्परा कारण है।

मदिरा को हिंसा का साक्षात् कारण बताते हैं ह

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।

मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥६३॥

अन्वयार्थ ह (च) और (मद्यं) मदिरा (बहूनां) बहुत (रसजानां जीवानां) रस से उत्पन्न हुए जीवों का (योनिः) उत्पत्ति स्थान (इष्यते) माना जाता है। इसलिए जो (मद्यं) मदिरा का (भजतां) सेवन करता है, उसके (तेषां) उन जीवों की (हिंसा) हिंसा (अवश्यम्) अवश्य ही (संजायते) होती है।

टीका ह 'च मद्यं बहूनां रसजानां जीवानां योनिः इष्यते।' ह मदिरा, रस से उत्पन्न हुए बहुत एकेन्द्रिय, द्वी इन्द्रियादिक जीवों की योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान है। इसलिए 'मद्यं भजतां तेषां हिंसा अवश्यं संजायते।' ह

जो मदिरापान करता है, उसके उन मदिरा के जीवों की हिंसा अवश्यमेव होती है। मदिरा में जो जीव पैदा हुए थे; उन सबको यह पी गया तो हिंसा कैसे नहीं हुई?

मदिरा में भावित हिंसा बताते हैं ह

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः।

हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ॥६४॥

अन्वयार्थ ह (च) और (अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककाम-कोपाद्याः) अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि, (हिंसायाः) हिंसा के (पर्यायाः) भेद हैं और (सर्वे अपि) ये सभी (सरकसन्निहिताः) मदिरा के निकटवर्ती हैं।

टीका ह 'च अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः हिंसायाः पर्यायाः सर्वे अपि सरकसन्निहिताः।' ह

अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि जितने हिंसा के भेद हैं, वे सभी मदिरा के निकटवर्ती हैं। एक मदिरापान करने से जितने भावहिंसा के भेद हैं, वे सभी ऐसे तीव्ररूप प्रकट होते हैं कि माता के साथ भी कामक्रीड़ा करने को तैयार हो जाता है। अभिमानादि का लक्षण पूर्व में वर्णन कर चुके हैं।

इसप्रकार मदिरा का प्रत्यक्ष दोष जानकर मदिरा का त्याग करना योग्य है। इसके अतिरिक्त जो अन्य मादक - नशावाली वस्तुयें हैं, उनमें भी हिंसा के भेद प्रगट होते हैं; अतः उन सबका भी त्याग करना उचित है।

मांस के दोष बताते हैं ह

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।

मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥६५॥

अन्वयार्थ ह (यस्मात्) कारण कि (प्राणिविघातात् विना) प्राणियों का घात किए बिना (मांसस्य) मांस की (उत्पत्तिः) उत्पत्ति (न इष्यते) नहीं मानी जा सकती, (तस्मात्) इसलिए (मांसं भजतः) मांसभक्षी पुरुष को (अनिवारिता) अनिवार्यरूप से (हिंसा) हिंसा (प्रसरति) फैलती है।

टीका ह 'यस्मात् प्राणिविघातात् विना मांसस्य उत्पत्ति न इष्यते ।' ह प्राणियों के - जीवों के घात किए बिना मांस की उत्पत्ति देखने में नहीं आती । मांस (द्वी इन्द्रियादि) जीवों के शरीर में होता है, दूसरी जगह नहीं; अतः उनके घात करने पर ही मांस मिलता है ।

'तस्मात् मांसं भजतः अनिवारिता हिंसा प्रसरति' । ह

इसलिए मांसभक्षी को अनिवार्य हिंसा फलती है - लगती है । मांस खानेवाला हिंसा को कैसे नहीं करे? अवश्य करे ही करे ।

कोई कहे कि आप स्वयं जीव को न मारे तो दोष नहीं है, उससे कहते हैं ह

यद्यपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः ।

तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥६६॥

अन्वयार्थ ह (यद्यपि) यद्यपि (किल) यह सत्य है कि (स्वयम् एव) अपने आप ही (मृतस्य) मरे हुए (महिषवृषभादेः) भैंस, बैल, इत्यादि का (मांसं) मांस (भवति) होता है, परन्तु (तत्र अपि) वहाँ भी अर्थात् उस मांस के भक्षण करने में भी (तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्) उस मांस के आश्रय से रहने वाले उसी जाति के निगोदिया जीवों के मन्थन से (हिंसा) हिंसा (भवति) होती है ।

टीका ह 'यद्यपि किल स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः मांसं भवति तत्र अपि हिंसा भवति ।' ह

यद्यपि प्रकटरूप से अपने आप मरे हुए भैंस, बैल वगैरह जीवों का मांस होता है तो भी उस मांसभक्षण में भी हिंसा होती है ।

किस प्रकार? 'तत् आश्रितनिगोतनिर्मथनात्' । ह

स्वयं तो जीव को नहीं मारा, परन्तु फिर भी उस मांस के आश्रित जो अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं, उनके घात करने से हिंसा होती है ।

मांस में निगोदिया जीवों की उत्पत्ति कहते हैं ह

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।

सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥६७॥

अन्वयार्थ ह (आमासु) कच्ची (पक्वासु) पकी (अपि) तथा (विपच्यमानासु) पकती हुई (अपि) भी (मांसपेशीषु) मांसपेशियों में (तत् जातीनां) उसी जाति के (निगोतानाम्) सम्मूर्छन जीवों का (सातत्येन) निरन्तर (उत्पादः) उत्पादन होता है ।

टीका ह 'आमासु अपि पक्वासु अपि, विपच्यमानासु मांसपेशीषु तत् जातीनां निगोतानाम् सातत्येन उत्पादः अस्ति ।' ह

कच्चा हो, अग्नि पर पका हुआ हो अथवा अग्नि पर पक रहा हो - ऐसे सर्व मांस के टुकड़ों में उसी जाति के अनन्त निगोदिया जीव प्रतिसमय निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं । सर्व अवस्थाओं में मांस के टुकड़ों में निरन्तर उसी मांस जैसे नए-नए अनन्त जीव उत्पन्न होते रहते हैं ।

मांस से हिंसा होती है - ऐसा प्रकट करते हैं ह

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।

स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥६८॥

अन्वयार्थ ह (यः) जो जीव (आमां) कच्ची (वा) अथवा (पक्वां) अग्नि में पकी हुई (पिशितपेशीम्) मांस की पेशी को (खादति) खाता है (वा) अथवा (स्पृशति) छूता है, (सः) वह पुरुष (सततनिचितं) निरन्तर इकट्ठे हुए (बहुजीवकोटीनाम्) अनेक जाति के जीव समूह के (पिण्डं) पिण्ड का (निहन्ति) घात करता है ।

टीका ह 'यः आमां वा पक्वां पिशितपेशीं खादति वा स्पृशति सः सततनिचितं बहुजीवकोटीनां पिण्डं निहन्ति' । ह

जो जीव कच्चा अथवा अग्नि में पकाये हुए मांस के टुकड़े का भक्षण करता है अथवा हाथ वगैरह से स्पर्श करता है, वह जीव निरन्तर जिसमें अनेक जाति के जीव इकट्ठे हुए थे, उस पिण्ड का घात करता है ।

मांस में तो निरन्तर जीव उत्पन्न हो होकर इकट्ठे हुए थे । इसने उस मांस का भक्षण किया अथवा स्पर्श किया, इससे उन जीवों की परम हिंसा उत्पन्न हुई । अतः मांस का त्याग अवश्य करना चाहिए ।

जिन दूसरी वस्तुओं में भी बहुत जीवों की उत्पत्ति पाई जाती है, वे सभी वस्तुएँ त्याग करने योग्य हैं।

मधु के दोष बताते हैं ह

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।

भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥६९॥

अन्वयार्थ ह (लोके) इस लोक में (मधुशकलमपि) मधु की एक बूँद भी (प्रायः) बहुत करके (मधुकरहिंसात्मकं) मधुकर - भौरों की अथवा मधुमक्खियों की हिंसा स्वरूप (भवति) होती है, इसलिए (यः) जो (मूढधीकः) मूर्ख-बुद्धि मनुष्य (मधु भजति) मधु का भक्षण करता है, (सः) वह (अत्यन्तं हिंसकः) अत्यन्त हिंसा करनेवाला होता है; इसलिए सर्वथा मधु का त्याग करना योग्य है।^१

मधुछत्ते से स्वयंमेव टपका हुआ मधु भी त्याज्य है ह

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।

तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥७०॥

अन्वयार्थ ह (यः) जो कोई (छलेन) कपट से (वा) अथवा (गोलात्) मधुछत्ते में से (स्वयम् एव विगलितम्) अपने आप टपका हुआ (मधु) मधु का (गृह्णीयात्) ग्रहण करता है (तत्र अपि) वहाँ भी (तदाश्रय, प्राणिनाम्) उसके आश्रयभूत जन्तुओं के (घातात्) घात से (हिंसा) हिंसा (भवति) होती है।^२

इस त्याग को समुच्चयरूप से कहते हैं ह

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।

वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥७१॥

अन्वयार्थ ह (मधु) शहद (मद्यं) मदिरा (नवनीतं) मक्खन (च) और (पिशितं) मांस (महाविकृतयः) महान विकारों को धारण करनेवाले

१, २ . इन दो श्लोकों का की टीका एवं भावार्थ मिला नहीं.

(ताः) इन चारों पदार्थों को (व्रतिना) व्रती पुरुष (न वल्भ्यन्ते) भक्षण न करे, कारण कि (तत्र) उन वस्तुओं में (तद्वर्णा) उस जाति के उसी वर्ण के धारी (जन्तवः) जीव रहते हैं।

टीका ह 'व्रतिना मधु मद्यं नवनीतं च पिशितं ताः महाविकृतयः न वल्भ्यन्ते।' ह व्रतधारी जीवों को मधु, मदिरा, मक्खन* और मांस जो बहुत विकार को धारण करनेवाले हैं तथा इन्हीं के समान अन्य विकारयुक्त पदार्थों का भक्षण नहीं करना चाहिए।

मधु की एक बूँद भी मक्खी की हिंसा से मिलती है। जो मन्दबुद्धि शहद खाते हैं, वे अत्यन्त हिंसक हैं। जो स्वयमेव टपका हुआ अथवा कपट करके मधु छत्ता में से मधु लेते हैं, वे भी हिंसक हैं; कारण कि मधु के आश्रय से रहनेवाले जीवों की हिंसा तो उस समय भी होती है।

व्रती पुरुष इन वस्तुओं का भक्षण नहीं करता। किसलिए? 'तत्र तद्वर्णाः जन्तवः' ह उस वस्तु में उसी रंगवाले बहुत जीव होते हैं। जैसी वह वस्तु है, वैसे ही उसमें जीव होते हैं। अन्य वस्तुओं के कहने से अर्थात् चमड़े से स्पर्शित घी, तेल, जल अथवा संधान ह अचार, विष, मिट्टी इत्यादि अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग करना योग्य है।

मुख्यरूप से मद्य, मांस, मधु का त्याग करवाया। तत्पश्चात् अन्य अभक्ष्य वस्तुओं को छोड़ने का उपदेश किया।

पाँच उदुम्बर फल के दोष बताते हैं ह

यो निरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।

त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥७२॥

अन्वयार्थ ह (उदुम्बरयुग्मं) ऊमर, कठूमर (प्लक्षन्यग्रोधपिप्पल - फलानि) पाकर (अंजीर), बड़ के फल और पीपल वृक्ष के फल (त्रसजीवानां) त्रस जीवों की (योनिः) खान हैं, (तस्मात्) इसलिए (तद्भक्षणे) उनके भक्षण में (तेषां) उन त्रस जीवों की (हिंसा) हिंसा होती है।

* मक्खन को दही में से निकालने के बाद अन्तर्मुहूर्त में ही तपा लेना चाहिए, अन्यथा वह अभक्ष्य हो जावेगा।

टीका ह 'उदुम्बरयुग्मं प्लक्ष्म्यग्रोधपिप्पलफलानि त्रसजीवानां योनिः ।'
उदुम्बर और कटूमर ये दो तथा पाकर (अंजीर), बड़ और पीपल के फल ये तीन - ये सभी त्रस जीवों की योनि हैं। इनमें उड़ते हुए जीव दिखाई पड़ते हैं। 'तस्मात् तद्भक्षणे तेषां हिंसा भवति ।' ह अतः इन पाँच वस्तुओं के भक्षण में उन त्रस जीवों की हिंसा होती है।

यदि कोई कहे कि इन पाँच उदुम्बरादि फलों में त्रस जीव न हों तब तो भक्षण कर लें? उसके लिए कहते हैं ह

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि ।

भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥७३॥

अन्वयार्थ ह (तु पुनः) और फिर (यानि) यह पाँच उदुम्बर फल (शुष्काणि) सूखे हुए (कालोच्छिन्नत्रसाणि) समय बीतने पर त्रस रहित (भवेयुः) हो गए हों (तानि अपि) उनके भी (भजतः) भक्षण करनेवाले को (विशिष्टरागादिरूपा) विशेष रागादिरूप (हिंसा) हिंसा (स्यात्) होती है।

टीका ह 'तु पुनः यानि शुष्काणि कालोच्छिन्नत्रसाणि भवेयुः तानि अपि भजतः हिंसा स्यात् ।' ह फिर जो पाँच उदुम्बरादि फल काल पाकर त्रस जीव रहित शुष्क हो गए हों तो भी उन्हें खानेवाले को हिंसा होती है।

कैसी हिंसा होती है? 'विशिष्टरागादिरूपा' - जिसमें विशेष रागभाव हुआ है, ऐसे स्वरूपवाली। यदि अधिक राग न होता तो ऐसी निन्द्य वस्तु किसलिए ग्रहण करता?

अतः जहाँ अधिक रागभाव हुआ, वही हिंसा है। जैसे किसी ने हरी वस्तु नहीं खाई; परन्तु उस वस्तु में रागभाव के सद्भाव के कारण उसे सुखाकर खाया। यदि राग न हो तो किसलिए ऐसा प्रयास करे?

प्रश्न ह यदि सूखी हुई वस्तु में दोष है तो अन्न क्यों खाते हैं?

उत्तर ह अन्न निन्द्य नहीं है तथा वह तो रागभाव के बिना सहज प्रवृत्ति से सूखता है। उसका भक्षण भी साधारण पेट भरने के निमित्त किया जाता है। अतः कुछ विशेष राग होने का कारण नहीं है। यहाँ तो विशेषरूप से रागभाव का होना ही हिंसा है ह ऐसा बताया गया है।

इस कथन का संकोच करते हैं ह

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।

जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

अन्वयार्थ ह (अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि) दुःखदायक, दुस्तर और पाप के स्थान (अमूनि) ऐसे (अष्टौ) आठ पदार्थों का (परिवर्ज्य) परित्याग करके (शुद्धधियः) निर्मल बुद्धिवाले पुरुष (जिनधर्मदेशनायाः) जैनधर्म के उपदेश के (पात्राणि) पात्र (भवन्ति) होते हैं।

टीका ह 'अनिष्ट-दुस्तर-दुरित-आयतनानि अमूनि अष्टौ परिवर्ज्य शुद्धधियः जिनधर्मदेशनायाः पात्राणि भवन्ति' । ह

महादुःखदायक और सुगमता से जिनका पार न पाया जा सके, ऐसे महापाप के स्थानरूप इन आठ वस्तुओं के खाने से महापाप उत्पन्न होता है। अतः इन्हें सर्वथा छोड़कर निर्मल बुद्धिवाला होता हुआ, जैनधर्म के उपदेश का पात्र होता है।

प्रथम इनका त्याग करे, तत्पश्चात् ही कोई अन्य उपदेश दिया जाये। जैसे जड़ के बिना वृक्ष नहीं होता, वैसे ही इनका त्याग किए बिना श्रावक नहीं होता, इसीकारण इनका नाम मूलगुण है।

इन हिंसादिक के त्याग करने का विधान कहते हैं ह

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।

औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ॥७५॥

अन्वयार्थ ह (औत्सर्गिकी निवृत्तिः) उत्सर्गरूप निवृत्ति अर्थात् सामान्य त्याग (कृतकारितानुमननैः) कृत, कारित और अनुमोदनारूप (वाक्कायमनोभिः) मन, वचन और काय से (नवधा) नौ प्रकार से (इष्यते) माना गया है (तु) और (एषा) यह (अपवादिकी) अपवादरूप निवृत्ति (विचित्ररूपा) अनेकरूप है।

टीका ह 'औत्सर्गिकी निवृत्तिः कृतकारितानुमननैः वाक्कायमनोभिः नवधा इष्यते' । ह

यह उत्सर्गरूप त्याग कृत, कारित, अनुमोदन सहित मन, वचन, काय के भेद से नौ प्रकार का कहा गया है। 'तु अपवादिकी एषा विचित्ररूपा' ह्व और अपवादरूप त्याग अनेक प्रकार का है।

भावार्थ ह्व हिंसादि का त्याग दो प्रकार का है। एक उत्सर्ग-त्याग और दूसरा अपवाद-त्याग। उत्सर्ग अर्थात् सामान्य, सामान्यरूप से सर्वथा त्याग करने को उत्सर्ग-त्याग कहते हैं।

उसके नौ भेद हैं ह्व मन से स्वयं करने का चिन्तवन न करे, दूसरे के द्वारा करवाने का चिन्तवन न करे और किसी ने किया हो, उसे भला न जाने।

वचन से स्वयं करने के लिए न कहे, अन्य को करवाने के लिए उपदेश न दे, किसी ने किया हो, उसे भला न कहे।

काय से स्वयं न करे, अन्य को हाथ इत्यादि से प्रेरित करके न करावे, किसी ने किया हो, उसकी हस्तादिक से प्रशंसा न करे, ये नौ भेद हैं।

तथा अपवाद त्याग अनेक प्रकार का है। ये नौ भंग बताये, उनमें से कितने ही भंगों से अमुक प्रकार त्याग करे, अमुक प्रकार न करे। अथवा थोड़ा या बहुत त्याग करे। इस रीति से मुझे यह कार्य करना। इस रीति से नहीं करना, इस भाँति अपवाद त्याग भिन्न-भिन्न प्रकार का है। अतः जिसप्रकार शक्य हो, उस रीति से त्याग करना।

हिंसा के त्याग के दो प्रकार कहते हैं ह्व

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम् ।

स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ॥७६॥

अन्वयार्थ ह्व (ये) जो जीव (अहिंसारूपं) अहिंसारूप (धर्म) धर्म को (संशृण्वन्तः अपि) भले प्रकार सुनकर भी (स्थावरहिंसां) स्थावर जीवों की हिंसा (परित्यक्तुम्) छोड़ने को (असहाः) असमर्थ हैं, (ते अपि) वे जीव भी (त्रसहिंसां) त्रस जीवों की हिंसा (मुञ्चन्तु) त्याग दें।

टीका ह्व 'ये अहिंसारूपं धर्मं संशृण्वन्तः अपि स्थावरहिंसां परित्यक्तुम् असहाः ते अपि त्रसहिंसां मुञ्चन्तु' ह्व

जो जीव अहिंसा ही जिसका स्वरूप है ह्व ऐसे धर्म का श्रवण गुरुमुख से करते हैं; परन्तु रागभाव के वश से स्थावर हिंसा छोड़ने को असमर्थ हैं, उन जीवों को भी त्रसहिंसा का त्याग तो करना ही चाहिए।

भावार्थ ह्व हिंसा का त्याग दो प्रकार से होता है। एक तो सर्वथा त्याग है, वह मुनिधर्म में होता है, उसे अंगीकार करना चाहिए; किन्तु यदि कषायवश सर्वथा त्याग न बन सके तो त्रसजीवों की हिंसा का त्याग करके श्रावकधर्म को अंगीकार करना चाहिए।

यहाँ कोई त्रसजीव का स्वरूप पूछे तो उससे कहते हैं कि संसारी जीव दो प्रकार के हैं ह्व एक स्थावर और एक त्रस। जो एक स्पर्शनेन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय जीव हैं, वे स्थावर हैं। उनके पाँच भेद हैं ह्व पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक।

जो द्वीन्द्रियादिक जीव हैं, उन्हें त्रस कहते हैं। उनके चार भेद हैं ह्व स्पर्शन और रसना इन्द्रिय सहित लट, कौड़ी, शंख, गिंजाई वगैरह दो इन्द्रिय जीव हैं। स्पर्श, जीभ और नासिका संयुक्त कीड़ी, मकोड़ा, कानखजूरा वगैरह तीन इन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, जीभ, नाक और आँख सहित मक्खी, भौरा, पतंगा इत्यादि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, जिह्वा, नासिका, नेत्र और कर्ण सहित जीव पंचेन्द्रिय हैं। उनके दो भेद हैं जिसके मन पाया जाये उसे सैनी (संज्ञी) और जिसके मन न पाया जाये उसे असैनी (असंज्ञी) कहते हैं।

इनमें संज्ञी पंचेन्द्रिय को छोड़कर शेष सभी तिर्यचगति के भेद हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय के चार प्रकार हैं ह्व देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यच। इनमें देव ह्व भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी (वैमानिक) के भेद से चार प्रकार के हैं। मनुष्य आर्य और म्लेच्छ के भेद से दो प्रकार के हैं। नारकी जीव सात भूमियों की अपेक्षा से सात प्रकार के हैं। तिर्यचों में मच्छादिक जलचर, वृषभादिक स्थलचर और हंसादिक नभचर - ये तीन प्रकार हैं।

त्रस-स्थावर के ये भेद जानकर इनकी रक्षा करनी चाहिए।

श्रावक को स्थावरहिंसा में भी स्वच्छंदपने का निषेध करते हैं
**स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
 शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥७७॥**

अन्वयार्थ ॥ (सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्) इन्द्रियविषयों को न्याय पूर्वक सेवन करनेवाले (गृहिणाम्) गृहस्थों को (स्तोकैकेन्द्रियघातात्) अल्प एकेन्द्रिय के घात के अतिरिक्त (शेषस्थावरमारणविरमणमपि) बाकी के स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों के मारने का त्याग भी (करणीयम्) करने योग्य (भवति) है ।

टीका ॥ 'सम्पन्नयोग्यविषयाणां गृहिणां स्तोकैकेन्द्रियघातात् शेषस्थावरमारणविरमणम् अपि करणीयं भवति ।' ॥

न्यायपूर्वक इन्द्रियों के विषयों को सेवन करनेवाले श्रावकों को यत्नवान होने पर भी थोड़ा एकेन्द्रिय का घात होता है, वह तो होवे; किन्तु शेष स्थावर जीवों को बिना कारण मारने का त्याग भी उसे करना योग्य है ।

भावार्थ ॥ योग्य विषयों का सेवन करते समय सावधानी वर्तते हुए भी स्थावर की हिंसा होती है, वह तो होती ही है; परन्तु अन्य स्थावर जीव की हिंसा करने का त्याग तो करना चाहिए ।

इस अहिंसा धर्म का साधन करते हुए सावधान करते हैं ॥

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा ।

अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम् ॥७८॥

अन्वयार्थ ॥ (अमृतत्वहेतुभूतं) अमृत अर्थात् मोक्ष का कारणभूत (परमं) उत्कृष्ट (अहिंसारसायनं) अहिंसारूपी रसायन (लब्ध्वा) प्राप्त करके (बालिशानां) अज्ञानी जीवों का (असमञ्जसम्) असंगत वर्तन (अवलोक्य) देखकर (आकुलैः) व्याकुल (न भवितव्यम्) नहीं होना चाहिए ।

टीका ॥ 'अमृतत्वहेतुभूतं परमम् अहिंसारसायनं लब्ध्वा बालिशानाम् असमञ्जसम् अवलोक्य आकुलैः न भवितव्यम् ।' ॥

मोक्ष का कारणभूत उत्कृष्ट अहिंसारूपी रसायन प्राप्त करके अज्ञानी जीवों का मिथ्यात्वभाव देखकर व्याकुल नहीं होना चाहिए ।

भावार्थ ॥ आप तो अहिंसा धर्म का साधन करता है और कोई मिथ्यादृष्टि अनेक युक्तियों से हिंसा को धर्म ठहराकर उसमें प्रवर्तन करे तो उसकी कीर्ति देखकर स्वयं को धर्म में आकुलता उत्पन्न नहीं करनी चाहिए ।

अथवा कदाचित् आपके तो पूर्वबद्ध बहुत पाप के उदय से असाता उत्पन्न हुई हो और उसके तो पूर्व बहुत पुण्य के उदय से किंचित् (किसीप्रकार) साता उत्पन्न हुई हो तो भी हमें उदयावस्था का विचार करके धर्म में आकुलता नहीं करना चाहिए ।

मिथ्यादृष्टि युक्ति से हिंसा में धर्म ठहराता है, उसको बारह सूत्रों में प्रकट करके श्रद्धालु श्रावक को सावधान करते हैं । पहली कु-युक्ति ॥

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति ।

इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥७९॥

अन्वयार्थ ॥ (भगवद्धर्मः) भगवान का कहा हुआ धर्म (सूक्ष्मः) बहुत बारीक है, इसलिए (धर्मार्थं) धर्म के निमित्त से (हिंसने) हिंसा करने में (दोषः) दोष (नास्ति) नहीं है ॥ (इति धर्ममुग्धहृदयैः) ऐसा धर्ममूढ़ अर्थात् भ्रमरूप हृदयवाला (भूत्वा) होकर (जातु) कभी भी (शरीरिणः) शरीरधारी जीवों को (न हिंस्याः) नहीं मारना चाहिए ।

टीका ॥ 'भगवद्धर्मः सूक्ष्मः' ॥ ज्ञान सहित धर्म सूक्ष्म है, अतः 'धर्मार्थं हिंसने दोषः न अस्ति' ॥ धर्म के निमित्त से हिंसा करने में दोष नहीं है; 'इति धर्ममुग्धहृदयैः भूत्वा शरीरिणः जातु न हिंस्याः ।' ॥

इसप्रकार धर्म में जिनका चित्त भ्रमरूप हुआ है, ऐसे होकर प्राणियों को कभी भी मत मारो ।

भावार्थ ॥ कोई अज्ञानी कहता है कि दूसरी जगह तो हिंसा करना पाप है; परन्तु यज्ञादि में धर्म के निमित्त से तो हिंसा करने में कोई दोष नहीं है ॥ इस श्रद्धान के साथ हिंसा में प्रवर्तन करना योग्य नहीं है ।

जहाँ हिंसा है, वहाँ कभी भी धर्म नहीं होता है।

प्रश्न ह्व जैनमत में मन्दिर बनवाना, पूजा-प्रतिष्ठा आदि करना कहा है, वहाँ धर्म है कि नहीं?

उत्तर ह्व जिन मन्दिर, पूजा, प्रतिष्ठादि कार्य में यदि जीव हिंसा होने का भय न रखे, यत्नाचार से न प्रवर्त्ते; किन्तु केवल अपनी प्रतिष्ठा और मान पोषण के लिए जैसे-तैसे कार्य करे तो वहाँ धर्म नहीं है, तीव्र कषायभाव होने से पाप ही है।

यत्नपूर्वक कार्य करते हुए थोड़ी हिंसा हो तो उस हिंसा का पाप तो हुआ; परन्तु धर्मानुराग से पुण्य संचय विशेष होता है। अथवा अपना संचित धन खर्च करने से लोभकषायरूप अन्तरंग हिंसा का त्याग होता है।

हिंसा का मूलकारण तो कषाय है, इसलिए तीव्रकषायरूप होकर उनकी हिंसा न करने से पाप भी थोड़ा हुआ।

अतः इस रीति से पूजा-प्रतिष्ठादि करे तो पुण्यरूपी धर्म ही होता है। जैसे कोई मनुष्य एक रुपया खर्च करके सौ रुपया कमाता है तो उसे कमायी ही कहते हैं। यदि वह धन धर्म कार्य में न लगाता तो उस धन से विषय-सेवन करके महापाप उत्पन्न करता, इस दृष्टि से धर्मकार्य में अल्प सावद्य होने पर भी नफा ही हुआ।

जिसप्रकार मुनि एक ही नगर में रागादि (स्नेहादि) उत्पन्न होने के भय से वहाँ न ठहरकर विहार करते हैं। विहार करते हुए थोड़ी-बहुत हिंसा भी होती है; परन्तु नफा-नुकसान का विचार करने पर एक ही नगर में रहना योग्य नहीं है। उसीप्रकार यहाँ भी नफा-नुकसान का विचार करना चाहिए।

एक सामान्य कथन से विशेष कथन का निषेध नहीं करना चाहिए। ऐसा भी कार्य तो आरम्भी, अव्रती और तुच्छव्रती करते हैं, अतः संक्षेप में ऐसा ही उपदेश है कि धर्म के निमित्त से हिंसा नहीं करना चाहिए।

हिंसा में धर्म ठहराने की दूसरी कु-युक्ति ह्व

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।

इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥८०॥

अन्वयार्थ ह्व (हि) निश्चय से (धर्मः) धर्म (देवताभ्यः) देवों से (प्रभवति) उत्पन्न होता है, इसलिए (इह) इस लोक में (ताभ्यः) उनके लिए (सर्वं) सभी कुछ (प्रदेयम्) दे देना चाहिए (इति दुर्विवेककलितां) ऐसे अविवेक से ग्रसित (धिषणां) बुद्धि (प्राप्य) प्राप्त करके (देहिनः) शरीरधारी जीवों को (न हिंस्याः) नहीं मारना चाहिए।

टीका ह्व 'हि धर्मः देवताभ्यः प्रभवति।' ह्व निश्चय से धर्म देवताओं से उत्पन्न होता है। 'इह ताभ्यः सर्वं प्रदेयम्।' ह्व इस लोक में उन देवों के निमित्त सब कुछ दे देना चाहिए। जीवों को भी मारकर उन पर चढ़ा दो ह्व 'इति दुर्विवेककलितां धिषणां प्राप्य देहिनः न हिंस्याः।' ह्व ऐसी अविवेकपूर्ण बुद्धि से प्राणियों को नहीं मारना चाहिए।

भावार्थ ह्व देव, देवी, क्षेत्रपाल, काली, महाकाली, चण्डी, चामुण्डी इत्यादि के लिए हिंसा नहीं करना। परजीव के मारने से अपना भला कैसे हो सकता है? सर्वथा नहीं हो सकता।

हिंसा में धर्म ठहराने की तीसरी कु-युक्ति ह्व

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।

इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥८१॥

अन्वयार्थ ह्व (पूज्यनिमित्तं) पूज्य पुरुषों के लिए (छागादीनां) बकरा वगैरह जीवों को (घाते) घात करने में (कःअपि) कोई भी (दोषः) दोष (नास्ति) नहीं है (इति) ऐसा (संप्रधार्य) विचारकर (अतिथये) अतिथि अथवा शिष्ट पुरुषों के लिए (सत्त्वसंज्ञपनम्) जीवों का घात (न कार्यम्) नहीं करना चाहिए।

टीका ह्व 'पूज्यनिमित्तं छागादीनां घाते कःअपि दोषः न अस्ति।' ह्व

अपने गुरु के लिए बकरा आदि जीवों के घात में कुछ दोष नहीं है, 'इति संप्रधार्य अतिथये सत्त्वसंज्ञपनं न कार्यम्।' हूँ ऐसा सोचकर अतिथि (फकीर इत्यादि गुरु) के लिए जीवों का घात नहीं करना चाहिए।

भावार्थ हूँ पापी, विषयलम्पटी और जिह्वालोलुपी, जो स्वयं तथा अन्य जीवों को नरक में ले जाने के लिए तैयार हैं, ऐसे कुगुरुओं के लिए भी हिंसा करना उचित नहीं है। हिंसा से उनका और अपना मोक्ष कैसे हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता।

हिंसा में धर्म ठहराने की चौथी कु-युक्ति हूँ

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम्।

इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥८२॥

अन्वयार्थ हूँ (बहुसत्त्वघातजनितात्) बहुत से जीवों के घात से उत्पन्न हुए (अशनात्) भोजन की अपेक्षा (एकसत्त्वघातोत्थम्) एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन (वरम्) अच्छा है हूँ (इति) ऐसा (आकलय्य) विचारकर (जातु) कभी भी (महासत्त्वस्य) बड़े वरस जीव का (हिंसनं) घात (न कार्यम्) नहीं करना चाहिए।

टीका हूँ 'बहुसत्त्वघातजनितात् अशनात् एकसत्त्वघातोत्थं वरम्।' हूँ बहुत जीवों के नाश से उत्पन्न हुए भोजन की अपेक्षा एक जीव के मारने से उत्पन्न किया गया भोजन उत्कृष्ट है हूँ 'इति आकलय्य जातु महासत्त्वस्य हिंसनं न कार्यम्।' हूँ ऐसा विचारकर कभी भी बड़े जीव की भी हिंसा नहीं करना चाहिए।

भावार्थ हूँ कोई कहे कि अन्न के आहार में तो बहुत जीव मरते हैं। इसलिए एक बड़ा जीव मारकर भोजन करें तो बहुत भला - ऐसा मानकर पंचेन्द्रिय जीव का घात करता है।

वहाँ हिंसा तो प्राणघात से है और एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय के द्रव्यप्राण तथा भावप्राण बहुत अधिक पाये जाते हैं। इसीकारण ऐसा

उपदेश है कि अनन्त एकेन्द्रिय जीवों को मारने की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव के मारने का पाप अनेक गुणा अधिक होता है तो पंचेन्द्रिय के मारने पर क्यों न बहुत पाप होगा?

तथा बड़े द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के मारने में तो मांस का आहार होता है, जिसका दोष पहले ही कहा जा चुका है, इसलिए ऐसा ही श्रद्धान करना उचित है।

हिंसा में धर्म ठहराने की पाँचवीं कु-युक्ति हूँ

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।

इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥८३॥

अन्वयार्थ हूँ (अस्य) इस (एकस्य एव) एक ही (जीवहरणेन) जीव का घात करने से (बहूनाम्) बहुत जीवों की (रक्षा भवति) रक्षा होती है हूँ (इति मत्वा) ऐसा मानकर (हिंस्रसत्त्वानाम्) हिंसक जीवों की भी (हिंसनं) हिंसा (न कर्त्तव्यम्) नहीं करना चाहिए।

टीका हूँ 'अस्य एकस्य एव जीवहरणेन बहूनाम् रक्षा भवति।' हूँ

इस एक ही जीव को मारने से बहुत से जीवों की रक्षा होती है 'इति मत्वा हिंस्रसत्त्वानाम् हिंसनं न कार्यम्।' हूँ ऐसा जानकर हिंसक जीवों का भी घात नहीं करना चाहिए।

भावार्थ हूँ सर्प, बिच्छू, सिंह, नाहर इत्यादि दूसरे जीवों को काटनेवाले, मारनेवाले हिंसक जीवों को मार डालने से बहुत से जीव बच जाते हैं। इसलिए इनको मारने में पाप नहीं है हूँ ऐसा श्रद्धान नहीं करना; क्योंकि इसे तो इसके कार्य का पाप लगेगा।

लोक में अनेक जीव पाप-पुण्य उपार्जन करते हैं, उनमें इसको क्या? वे हिंसक जीव हिंसा करते हैं तो उसका पाप उन्हें लगता है, आप उनकी हिंसा कर के पाप उपार्जन क्यों करें?

हिंसा में धर्म ठहराने की छठवीं कु-युक्ति हूँ

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।

इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्रः ॥८४॥

अन्वयार्थ ह (बहुसत्त्वघातिनः) बहुत जीवों के घातक (अमी) ये जीव (जीवन्तः) जीवित रहेंगे तो (गुरुपापम्) बहुत पाप (उपार्जयन्ति) उपार्जित करेंगे ह (इति) इसप्रकार की (अनुकम्पां कृत्वा) दया करके (हिंस्रः शरीरिणः) हिंसक जीवों को (न हिंसनीयाः) नहीं मारना चाहिए।

टीका ह 'बहुसत्त्वघातिनः अमी जीवन्तः गुरुपापम् उपार्जयन्ति।' ह बहुत जीवों को मानेवाले ये पापी जीते रहेंगे, तो बहुत पाप उत्पन्न करेंगे 'इति अनुकम्पां कृत्वा हिंस्रः न हिंसनीयाः' ह इसप्रकार दया करके हिंसक जीवों को भी न मारे।

भावार्थ ह शिकारी, चिड़ीमार, बाज इत्यादि जो-जो हिंसक हैं, वे जीवित रहेंगे तो बहुत पाप करेंगे और अनेक जीवों को मारेंगे। इसलिए इनको मार देना चाहिए ह ऐसा श्रद्धान नहीं करना; क्योंकि उनकी हिंसावृत्ति का पाप उनको ही है, अपने को क्या? यदि हो सके, तो उनकी उस पापक्रिया को छुड़ा देना।

हिंसा में धर्म ठहराने की सातवीं कु-युक्ति ह

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।

इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः॥८५॥

अन्वयार्थ ह (तु) और (बहुदुःखाः संज्ञपिताः) अनेक दुःखों से पीड़ित जीव (अचिरेण) थोड़े ही समय में (दुःखविच्छित्तिम्) दुःखों का अन्त (प्रयान्ति) पा जायेंगे (इति वासनाकृपाणीं) इसप्रकार की वासना अथवा विचाररूपी तलवार (आदाय) लेकर (दुःखिनः अपि) दुःखी जीवों को भी (न हन्तव्याः) नहीं मारना चाहिए।

टीका ह 'तु बहुदुःखाः संज्ञपिताः अचिरेण दुःखविच्छित्तिं प्रयान्ति।' ह

ये जीव बहुत दुःख से पीड़ित हैं, अतः यदि इन्हें मार दिया जाये तो उनका सारा दुःख दूर हो जायेगा। 'इति वासनाकृपाणीम् आदाय दुःखिनः अपि न हन्तव्याः' ह ऐसी खोटी वासनारूपी तलवार ग्रहण करके दुःखी जीवों को भी नहीं मारना चाहिए।

भावार्थ ह यह जीव रोग से अथवा दरिद्रता आदि से अत्यन्त दुःखी है। यदि इसे मार दें तो उस दुःख से वह मुक्त हो जायेगा ह ऐसी श्रद्धा नहीं करना चाहिए। मनुष्य और तिर्यच की आयु पुण्य के उदय से बड़ी होती है, अतः इसका छेद नहीं करना अथवा जैसा उसका उदय है वैसा भोगता है, आप हिंसा करके पाप क्यों उत्पन्न करे?

हिंसा में धर्म ठहराने की आठवीं कु-युक्ति ह

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।

इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः॥८६॥

अन्वयार्थ ह (सुखावाप्तिः) सुख की प्राप्ति (कृच्छ्रेण) कष्ट से होती है, अतः (हताः) मारने में आए हुए (सुखिनः) सुखी जीव (सुखिनः एव) परलोक में सुखी ही (भवन्ति) होंगे (इति) ह इसप्रकार (तर्कमण्डलाग्रः) कुतर्क की तलवार (सुखिनां घाताय) सुखी जीवों के घात के लिए (न आदेयः) अंगीकार नहीं करना चाहिए।

टीका ह 'कृच्छ्रेण सुखावाप्तिः।' - कष्ट से सुख की प्राप्ति होती है। 'सुखिनः हताः सुखिनः एव भवन्ति।' - इसलिए सुखी जीवों को मारा जाये तो परलोक में भी सुखी ही होंगे, 'सुखिनां घाताय इति तर्कमण्डलाग्रः न आदेयः।' - सुखी जीवों के घात के लिए इसप्रकार का विचार किसी को नहीं करना चाहिए।

भावार्थ ह सुख कष्ट से होता है। इसलिए इन सुखी जीवों को काशी के करवत इत्यादि रीति से मारा जाये तो परलोक में भी वे सुखी होंगे ह ऐसा श्रद्धान नहीं करना चाहिए। इसप्रकार मरने से स्वयं मरे या दूसरों को मारे तो सुखी कैसे हो सकते हैं? सुखी तो सत्यधर्म के साधन से हो सकते हैं।

हिंसा में धर्म ठहराने की नौवीं कु-युक्ति ह

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।

स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषिता॥८७॥

अन्वयार्थ ह (सुधर्मम् अभिलषिता) सत्यधर्म के अभिलाषी (शिष्येण) शिष्य द्वारा (भूयसः अभ्यासात्) अधिक अभ्यास से (उपलब्धि-सुगतिसाधनसमाधिसारस्य) ज्ञान और सुगति करने में कारणभूत समाधि के सार को प्राप्त करनेवाले (स्वगुरोः) अपने गुरु का (शिरः) मस्तक (न कर्त्तनीयम्) नहीं काटना चाहिए।

टीका ह 'सुधर्मम् अभिलषिता शिष्येण स्वगुरोः शिरः न कर्त्तनीयम्।' ह धर्म के चाहनेवाले शिष्य को अपने गुरु का मस्तक नहीं काटना चाहिए। कैसे हैं गुरु? 'भूयसः अभ्यासात् उपलब्धि-सुगति-साधन समाधिसारस्य' - बहुत अभ्यास से जिन्होंने सुगति के कारणभूत समाधि का सार पा लिया है।

भावार्थ ह हमारा गुरु अभ्यास में लग गया है (ध्यान-समाधि में मग्न है), अभ्यास बहुत किया है। अब यदि इसके प्राणों का अन्त कर दिया जाये, तो वह उच्च पद को प्राप्त हो जायेगा - ऐसा विचार करके शिष्य को अपने गुरु का मस्तक काटना योग्य नहीं है। उसने जो साधन किया है, उसके फल को वह भविष्य में प्राप्त करेगा ही। तू हिंसा करके पाप किसलिए उत्पन्न करता है?

हिंसा में धर्म ठहराने की दसवीं कु-युक्ति ह

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्।

झटिति घटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम् ॥८८॥

अन्वयार्थ ह (धनलवपिपासितानां) थोड़े धन का लोभी और (विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्) शिष्यों को विश्वास उत्पन्न करने के लिए दर्शानेवाला (खारपटिकानाम्) खारपटिकों का (झटिति घटचटक-मोक्षं) शीघ्र घड़ा फूटने से चिड़िया के मोक्ष की तरह मोक्ष का (नैव-श्रद्धेयं) श्रद्धान नहीं करना चाहिए।

टीका ह 'खारपटिकानां झटिति घटचटकमोक्षं नैव श्रद्धेयं।' ह

एक खारपटिक का मत है, वह तत्काल घड़े के पक्षी के मोक्षसमान मोक्ष कहता है, उसका श्रद्धान नहीं करना।

कोई खारपटिक नाम का मत है, उसमें मोक्ष का स्वरूप ऐसा कहते हैं कि जिसप्रकार घड़े में पक्षी कैद है। यदि उस घड़े को फोड़ डाला जाये, तो पक्षी बन्धनरहित मुक्त हो जाए।

उसीप्रकार आत्मा शरीर में बन्द है; यदि शरीर का नाश कर दिया जाये तो आत्मा बन्धन रहित मुक्त हो जाये - ऐसा श्रद्धान नहीं करना चाहिए; क्योंकि यह श्रद्धान हिंसा का कारण है।

अन्तरंग कार्माण शरीर के बन्धन सहित आत्मा इसतरह मुक्त कैसे हो सकता है? कैसा है खारपटिक? 'धनलवपिपासितानाम्' - थोड़े - से धन का लोभी है तथा कैसा है? 'विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्' शिष्यों को विश्वास दिलाने के लिए कितनी ही रीतियाँ दिखलाता है; अतः इसके कथन का श्रद्धान नहीं करना।

हिंसा में धर्म ठहराने की ग्यारहवीं कु-युक्ति ह

दृष्ट्वा परं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।

निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि ॥८९॥

अन्वयार्थ ह (च) और (अशनाय) भोजन के लिए (पुरस्तात्) पास (आयान्तम्) आये हुए (अपरं) अन्य (क्षामकुक्षिम्) भूखे पुरुष को (दृष्ट्वा) देखकर (निजमांसदानरभसात्) अपने शरीर का मांस देने की उत्सुकता से (आत्मापि) अपना भी (न आलभनीयः) घात नहीं करना चाहिए।

टीका ह 'च अशनाय आयान्तं क्षामकुक्षिं पुरस्तात् दृष्ट्वा निजमांस-दानरभसात् आत्मा अपि न आलभनीयः।' ह

भोजन लेने के लिए आए हुए दुर्बल उदरवाले मनुष्य को अपने समक्ष देखकर अपने मांस देने के उत्साह से - उतावली से अपने शरीर का भी घात नहीं करना।

भावार्थ ह कोई मांसभक्षी जीव भोजन के लिए अपने पास आया, उसे देखकर उसके लिए अपने शरीर का भी घात नहीं करना; कारण कि मांसभक्षी पात्र नहीं है और मांस का दान उत्तम दान नहीं है।

हिंसा में धर्म ठहराने की बारहवीं कु-युक्ति ह

को नाम विशति मोहं नयभंगविशारदानुपास्य गुरून् ।

विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥१०॥

अन्वयार्थ ह (नयभंगविशारदान्) नय के भंगों को जानने में प्रवीण (गुरून्) गुरुओं की (उपास्य) उपासना करके (विदितजिनमतरहस्यः) जैनमत का रहस्य जाननेवाला (को नाम) ऐसा कौन (विशुद्धमतिः) निर्मल बुद्धिधारी है, जो (अहिंसां श्रयन्) अहिंसा का आश्रय लेकर (मोहं) मूढ़ता को (विशति) प्राप्त होवे?

टीका ह 'नाम नयभंगविशारदान् गुरून् उपास्य कः मोहं विशति ।' ह नाम, ऐसा अव्यय कोमल संबोधन के लिए है। हे जीव ! नय के भेदों को जानने में प्रवीण गुरु की सेवा करके कौन जीव मोह को प्राप्त होगा? (अर्थात् कोई नहीं होगा।)

जीव को भले-बुरे, हित-अहित का श्रद्धान गुरु के उपदेश से होता है। पूर्वोक्त अश्रद्धानी कुगुरु के बहकाने से यह जीव अन्यथा प्रवर्तन करता है; परन्तु जिस जीव ने सर्व नय के ज्ञाता परम गुरु की सेवा की है, वह भला कैसे भ्रम में पड़ सकता है? कदापि नहीं पड़ सकता।

कैसा है वह जीव? 'विदितजिनमतरहस्यः'- जिसने जैनमत का रहस्य जान लिया है और कैसा है वह जीव? 'अहिंसां श्रयन्' - (सर्वज्ञ वीतरागकथित) दया को ही धर्म का स्वरूप जिसने अंगीकार किया है और कैसा है? 'विशुद्धमतिः' - जिसकी बुद्धि निर्मल है, ऐसा जीव मोह को प्राप्त नहीं होता।

इसप्रकार दया धर्म को दृढ़ करके अहिंसा व्रत का वर्णन किया। (श्लोक ४२ से ९० पर्यंत अहिंसाणुव्रत का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।)



सत्याणुव्रत

असत्य पाप का भेद सहित स्वरूप स्पष्ट करते हैं ह

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।

तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥११॥

अन्वयार्थ ह (यत्) जो (किमपि) कुछ (प्रमादयोगात्) प्रमाद, कषाय के योग से (इदं) यह (असदभिधानं) स्व-पर को हानिकारक अथवा अन्यथारूप वचन (विधीयते) कहने में आता है, (तत्) उसे (अनृतम् अपि) निश्चय से असत्य (विज्ञेयम्) जानना चाहिए, (तद्भेदाः चत्वारः) उसके चार भेद (सन्ति) हैं।

टीका ह 'यत् किमपि प्रमादयोगात् इदम् असत् अभिधानं विधीयते तत् अनृतम् अपि विज्ञेयम्।' ह जो कुछ प्रमाद सहित योग के हेतु से असत्य अर्थात् बुरा अथवा अन्यथारूप वचन है, उसे निश्चय से अनृत जानो। 'तद्भेदाः चत्वारः सन्ति।' - उस असत्य वचन के चार भेद हैं।

उनमें असत्य का प्रथम भेद कहते हैं ह

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु ।

तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥१२॥

अन्वयार्थ ह (यस्मिन्) जिस वचन में (स्वक्षेत्रकालभावैः) अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से (सत् अपि) विद्यमान होने पर भी (वस्तु) वस्तु का (निषिध्यते) निषेध करने में आता है, (तत्) वह (प्रथमम्) प्रथम (असत्यं) असत्य (स्यात्) है, (यथा) जैसे (अत्र) यहाँ (देवदत्तः) देवदत्त (नास्ति) नहीं है।

टीका ह 'यस्मिन् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत् अपि वस्तु निषिध्यते तत् प्रथमम् असत्यं स्यात्।' ह जिस वचन में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल,

भाव से सत्तारूप में विद्यमान पदार्थ का भी निषेध करने में आये कि पदार्थ नहीं है; यह प्रथम भेदरूप असत्य है। दृष्टान्त कहते हैं - 'यथा अत्र देवदत्तः नास्ति' - जैसे यहाँ देवदत्त नहीं है।

भावार्थ ह्व किसी क्षेत्र में देवदत्त नाम का पुरुष बैठा था, वहाँ किसी ने पूछा कि यहाँ देवदत्त है? तो उत्तर दिया कि यहाँ देवदत्त नहीं है। इसीप्रकार अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जो वस्तु अस्तिरूप हो, उसे नास्तिरूप कहना, असत्य का प्रथम भेद है।

जो कुछ वह पदार्थ है, उसे 'द्रव्य', जिस क्षेत्र को रोककर तिष्ठे, उसे 'क्षेत्र', जिस काल में जिस रीति से परिणमन करे, उसे 'काल' तथा उस पदार्थ का जैसा कुछ निजभाव है, उसे 'भाव' कहते हैं।

अपने इस चतुष्टय की अपेक्षा से सर्व पदार्थ अस्तित्व रूप हैं। वहाँ देवदत्त का निज चतुष्टय तो था ही; परन्तु नास्तिरूप जो कथन हुआ, वही असत्य वचन हुआ।

असत्य का दूसरा भेद कहते हैं ह्व

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।

उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः॥१३॥

अन्वयार्थ ह्व (हि) निश्चय से (यत्र) जिस वचन में (तैः परक्षेत्र - कालभावैः) उन परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से (असत् अपि) अविद्यमान होने पर भी (वस्तुरूपम्) वस्तु का स्वरूप (उद्भाव्यते) प्रकट करने में आये, (तत्) वह (द्वितीयम्) दूसरा (अनृतम्) असत्य (स्यात्) है, (यथा) जैसे (अस्मिन्) यहाँ (घटः अस्ति) घड़ा है।

टीका ह्व 'हि यत्र तैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः वस्तुरूपम् असत् अपि उद्भाव्यते तत् द्वितीयम् अनृतम्।' ह्व निश्चय से जिस वचन में परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से पदार्थ सत्तारूप नहीं है तो भी वहाँ प्रकट करना, वह दूसरा असत्य है। उसका दृष्टान्त - 'यथा अस्मिन् घटः अस्ति।' ह्व जैसे कि यहाँ घड़ा है।

भावार्थ ह्व किसी क्षेत्र में घड़ा तो था नहीं, इसलिए उस समय उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी नहीं था, दूसरा पदार्थ था; अतः उस समय उसी का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव था।

किसी ने पूछा कि यहाँ घड़ा है कि नहीं? वहाँ घड़ा है ह्व ऐसा कह देना, दूसरे असत्य का भेद है; क्योंकि नास्तिरूप वस्तु को अस्ति कहा। असत्य का तीसरा भेद कहते हैं ह्व

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।

अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः॥१४॥

अन्वयार्थ ह्व (च) और (यस्मिन्) जिस वचन में (स्वरूपात्) अपने चतुष्टय से (सत् अपि) विद्यमान होने पर भी (वस्तु) पदार्थ (पररूपेण) अन्य स्वरूप से (अभिधीयते) कहने में आता है, उसे (इदं) यह (तृतीयम् अनृतं) तीसरा असत्य (विज्ञेयं) जानो, (यथा) जैसे (गौः) बैल को (अश्वः) घोड़ा है (इति) ऐसा कहना।

टीका ह्व 'च यस्मिन् सत् अपि वस्तु पररूपेण अभिधीयते इदं तृतीयम् अनृतं विज्ञेयम्।' ह्व जिस वचन में यद्यपि पदार्थ अपने चतुष्टय में विद्यमान है; तथापि उस पदार्थ को अन्य पदार्थरूप से कथन किया जाये, उसे तीसरा असत्य जानो। उसका उदाहरण ह्व 'यथा गौः अश्वः' जैसे बैल को घोड़ा कहना।

भावार्थ ह्व किसी क्षेत्र में बैल अपने चतुष्टय में स्थित था, वहाँ किसी ने पूछा कि यहाँ क्या है? तो ऐसे कहने में आया कि यहाँ घोड़ा है - इसप्रकार वस्तु को अन्यरूप कहना, यह असत्य का तीसरा भेद है।

असत्य का चौथा भेद कहते हैं ह्व

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।

सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु॥१५॥

अन्वयार्थ ह्व (तु) और (इदं) यह (तुरीयं) चौथा (अनृतं) असत्य (सामान्येन) सामान्यरूप से (गर्हितं) गर्हित, (अवद्यसंयुतम्) पाप सहित (अपि) और (अप्रियं) अप्रिय इसतरह (त्रेधा) तीन प्रकार का (मतम्) माना गया है, (यत्) जो कि (वचनरूपं) वचनरूप (भवति) है।

टीका ह 'तु इदं तुरीयम् अनृतं सामान्येन त्रेधा मतम् यत् अपि वचनरूपं गर्हितम् अवद्यसंयुतं अप्रियं भवति' । ह

यह चौथा असत्य का भेद निश्चय से वचनस्वरूप तीन प्रकार का है— (१) वचन से निन्दा के शब्द कहना, (२) हिंसा सहित वचन बोलना, (३) अप्रिय अर्थात् दूसरे को बुरे लगें, ऐसे वचन बोलना ।

इन चार भेदों में प्रथम ही गर्हित वचन का स्वरूप कहते हैं ह

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च ।

अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥१६॥

अन्वयार्थ ह (पैशून्यहासगर्भं) दुष्टता अथवा निन्दारूप हास्यवाला, (कर्कशं) कठोर (असमञ्जसं) मिथ्याश्रद्धान वाला (च) और (प्रलपितं) प्रलापरूप (बकवाद) तथा (अन्यदपि) और भी (यत्) जो (उत्सूत्रं) शास्त्रविरुद्ध वचन हैं, (तत्सर्वं) वे सभी (गर्हितं) निन्द्यवचन (गदितम्) कहे गये हैं ।

टीका ह 'यत् वचनं पैशून्यहासगर्भं कर्कशम् असमञ्जसं प्रलपितं च अन्यत् अपि उत्सूत्रं तत् गर्हितं गदितम्' । ह

जिस वचन में दुष्टता हो, जो वचन अन्य जीव का बुरा करनेवाला हो, अपने को रौद्रध्यान करानेवाला हो तथा हास्यमिश्रित हो, दूसरे जीव का मर्मछेदक हो, स्वयं को प्रमादकारक हो, कर्कश - कठोर हो अर्थात् सुनने में बुरा लगे, असमंजस ह मिथ्या-श्रद्धानादिस्वरूप हो और अप्रमाणरूप हो तथा अन्य भी शास्त्रविरुद्ध वचनों को गर्हित वचन में गर्हित समझना । गर्हित नाम निन्दा का है, जिस वचन की शास्त्र में निन्दा की गई हो; वह सब गर्हित वचन है ।

दूसरे सावद्यसंयुक्त असत्य का स्वरूप बताते हैं ह

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि ।

तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥१७॥

अन्वयार्थ ह (यत्) जो (छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्य-वचनादि) छेदन, भेदन, मारण, शोषण, व्यापार या चोरी आदि के वचन हैं (तत्) वे सब (सावद्यं) पापयुक्त वचन हैं, (यस्मात्) क्योंकि ये (प्राणिवधाद्याः) प्राणीहिंसा आदि पापरूप (प्रवर्तन्ते) प्रवर्तन करते हैं ।

टीका ह 'यत् छेदन-भेदन-मारण-कर्षण-वाणिज्य-चौर्यवचनादि तत् सर्वं सावद्यम् अस्ति यस्मात् प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ।' ह

जो अन्य जीव के नाक आदि छेदने के, काटने के, मारने के, खींचने के, अन्नादिक (हिंसक) व्यापार करने के अथवा परवस्तु की चोरी करने आदि के वचन कहने में आयें, वे सभी सावद्य (पाप) सहित झूठ का स्वरूप है; क्योंकि इनसे प्राणियों का घात होता है ।

भावार्थ ह अवद्य का अर्थ पाप है, अतः जिस वचन से पाप की प्रवृत्ति हो; उसे सावद्य कहते हैं ।

अप्रिय असत्य का स्वरूप कहते हैं ह

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम् ।

यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥१८॥

अन्वयार्थ ह (यत्) जो वचन (परस्य) दूसरे जीव को (अरतिकरं) अप्रीतिकारक (भीतिकरं) भयकारक (खेदकरं) खेदकारक (वैर-शोककलहकरं) वैर, शोक तथा कलहकारक हों और जो (अपरमपि) अन्य भी (तापकरं) सन्तापकारक हों (तत्) वह (सब) सर्व ही (अप्रियं) अप्रिय (ज्ञेयम्) जानना चाहिए ।

टीका ह 'यत् वचनं परस्य अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोक-कलहकरं तथा अपरमपि तापकरं तत्सर्वम् अप्रियं ज्ञेयम् ।' ह

जो वचन दूसरों को अरति करनेवाला अर्थात् बुरा लगनेवाला हो, भय उत्पन्न करनेवाला हो, खेद उत्पन्न करनेवाला हो तथा वैर, शोक और कलह करनेवाला हो; तथा अन्य जीव को आताप, अनेक प्रकार के दुःख उत्पन्न करनेवाला हो - ऐसे सभी वचन अप्रिय झूठ के ही भेद हैं ।

असत्य वचन में हिंसा का सद्भाव दिखलाते हैं ह

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत् ।

अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥१९॥

अन्वयार्थ ह (यत्) चूँकि (अस्मिन्) इन (सर्वस्मिन्नपि) सभी वचनों में (प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं) प्रमाद सहित योग ही एक हेतु कहने में आया है (तस्मात्) इसलिए (अनृतवचने) असत्य वचन में (अपि) भी (हिंसा) हिंसा (नियतं) निश्चितरूप से (समवतरति) आती है ।

टीका ह 'यत् अस्मिन् सर्वस्मिन् अपि अनृतवचने प्रमत्तयोगैकहेतु - कथनम् अस्ति तस्मात् अनृतवचने हिंसा नियतं समवतरति' । ह

इन सभी प्रकार के झूठ वचनों में प्रमादयोग ही कारण है । इसलिए झूठ वचन बोलने में हिंसा अवश्य ही होती है; कारण कि हिंसा प्रमाद सहित योग से ही होती है । प्रमाद के बिना हिंसा नहीं होती ।

जहाँ प्रमाद सहित योग नहीं होता, वहाँ हिंसा भी नहीं होती । जहाँ प्रमाद सहित योग है, वहाँ हिंसा अवश्य होती है । तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा का लक्षण 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।' ह ऐसा कहा जाता है अर्थात् प्रमाद के योग से प्राणों का घात करना, हिंसा है ।

प्रमाद सहित योग को हिंसा का कारण क्यों कहा है ह

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।

हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥१००॥

अन्वयार्थ ह (सकलवितथवचनानाम्) समस्त झूठ वचनों का (प्रमत्तयोगे) प्रमाद सहित योग (हेतौ) हेतु (निर्दिष्टे सति) निर्दिष्ट करने में आया होने से (हेयानुष्ठानादेः) हेय-उपादेय आदि अनुष्ठानों का (अनुवदनं) कहना (असत्यं) झूठ (न भवति) नहीं है ।

टीका ह 'सकलवितथवचनानाम् प्रमत्तयोगे हेतौ निर्दिष्टे सति हेयानुष्ठानादेः अनुवदनम् असत्यं न भवति ।' ह

समस्त झूठ वचनों का कारण प्रमाद सहित योग को बताकर हेय और उपादेय का बारम्बार कथन करना झूठ नहीं है; यह स्पष्ट करते हैं ।

भावार्थ ह असत्य वचन के त्यागी महामुनि हेय और उपादेय का बारम्बार उपदेश करते हैं । पुण्यकथा में नाना प्रकार के अलंकार सहित नव रसों का वर्णन करते हैं । वहाँ पाप की निंदा करने पर पापी जीवों को उनका उपदेश अप्रिय लगता है अथवा कोई जीव अपने हितैषी के लिए धर्मोपदेश देते हैं; किन्तु वे अपने लिए दिये गये धर्मोपदेश को सुनकर भी महा दुःख पाते हैं; परन्तु उन आचार्यों को असत्य का दोष नहीं लगता; क्योंकि उनके वचन प्रमाद (कषाय) गर्भित नहीं है ।

प्रमाद पूर्वक वचन में ही हिंसा है । इसलिए कहा है कि प्रमाद सहित योग से वचन बोलना, वही झूठ है, अन्यथा नहीं ।

असत्य वचन के त्याग का प्रकार कहते हैं ह

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम् ।

ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥१०१॥

अन्वयार्थ ह (ये) जो जीव (भोगोपभोगसाधनमात्रं) भोगोपभोग के साधनमात्र (सावद्यम्) सावद्यवचन (मोक्तुम्) छोड़ने में (अक्षमाः) असमर्थ हैं, (ते अपि) वे भी (शेषम्) बाकी के (समस्तमपि) सभी (अनृतं) असत्य भाषण का (नित्यमेव) निरन्तर (मुञ्चन्तु) त्याग करें ।

टीका ह 'ये अपि भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यम् मोक्तुम् अक्षमाः (सन्ति) ते अपि शेषं समस्तम् अपि अनृतं नित्यम् एव मुञ्चन्तु' । ह

जो प्राणी अपने न्यायपूर्वक भोगोपभोग के कारणभूत सावद्य (हिंसासहित) वचन त्यागने में असमर्थ हैं, उन्हें भी अन्य समस्त झूठ वचनों का निश्चय कर (निर्णय कर) सदाकाल त्याग करना चाहिए ।

भावार्थ ह झूठ का त्याग दो प्रकार का है - एक सर्वथा त्याग, दूसरा एकदेश त्याग । सर्वथा-सर्व प्रकार से झूठ का त्याग तो मुनिधर्म में ही बनता है तथा एकदेश त्याग श्रावकधर्म में होता है ।

यदि सर्वथा त्याग बन सके, तब तो अवश्य ही करना चाहिए। यदि कदाचित् कषाय के उदय से (अर्थात् कषायवश) सर्वथा त्याग न बन सके तो एकदेश त्याग तो अवश्य ही करना चाहिए; कारण कि श्रावक अवस्था में झूठ के अन्य सर्व भेदों का त्याग होता है, परन्तु सावद्य झूठ का त्याग नहीं हो सकता; किन्तु वहाँ भी अपने भोग-उपभोग निमित्त ही झूठ वचन-सावद्य वचन हो, तो हो; किन्तु अन्य सर्व सावद्य वचनों का त्याग करे।



उपदेश का क्रम

चरणानुयोग में तीव्र कषायों का कार्य छुड़ाकर मन्दकषाय रूप कार्य करने का उपदेश देते हैं। यद्यपि कषाय करना बुरा ही है, तथापि सर्व कषाय न छूटते जानकर जितने कषाय घटें, उतना ही भला होगा ह्व ऐसा प्रयोजन वहाँ जानना। जैसे जिन जीवों के आरम्भादि करने की व मन्दिरादि (मकानादि) बनवाने की, व विषय-सवेन की व क्रोधादि करने की इच्छा सर्वथा दूर होती न जाने, उन्हें पूजा-प्रभावनादिक करने का व चैत्यालयादि बनवाने का व जिनदेवादिक के आगे शोभादिक, नृत्य-गानादिक करने का व धर्मात्मा पुरुषों की सहाय आदि करने का उपदेश देते हैं; क्योंकि इनमें परम्परा कषाय का पोषण नहीं होता।

ह्व पण्डित टोडरमल

मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २८०

अचौर्याणुव्रत

तीसरे स्तेय (चौर्य) पाप का वर्णन ह्व

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।

तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥१०२॥

अन्वयार्थ ह्व (यत्) जो (प्रमत्तयोगात्) प्रमाद-कषाय के योग से (अवितीर्णस्य) बिना दिये (परिग्रहस्य) स्वर्ण-वस्त्रादि परिग्रह का (ग्रहणं) ग्रहण करना है (तत्) उसे (स्तेयं) चोरी (प्रत्येयं) जानना चाहिए (च) और (सा एव) वही (वधस्य) वध का (हेतुत्वात्) कारण होने से (हिंसा) हिंसा है।

टीका ह्व 'यत् प्रमत्तयोगात् अवितीर्णस्य ग्रहणं तत् स्तेयं प्रत्येयं च सा एव हिंसा (भवति) वधस्य हेतुत्वात्।' ह्व

प्रमाद के योग से बिना दिये हुए स्वर्ण-वस्त्रादि परिग्रह का ग्रहण करना चोरी कहलाता है।

स्वर्णादिक वस्तु को स्वामी की आज्ञा के बिना चुरा लेना, भुला देना, पड़ी हुई उठा लेना, जबरदस्ती से ले लेना अथवा जिस-तिस प्रकार बिना दिये ले लेना चोरी है और वही चोरी हिंसा है; क्योंकि अपने तथा परजीव के प्राणघात का कारण है।

भावार्थ ह्व अपने को चोरी करने का भाव हुआ, वह भावहिंसा है और जो कोई अपने को चोर जान ले तो प्राणों का वियोग करे, वही द्रव्यहिंसा है तथा जिस जीव की वस्तु चोरी गई, उसे जो अन्तरंग पीड़ा हुई, वही उसकी भावहिंसा है और वस्तु के निमित्त से उस जीव के द्रव्यप्राण पुष्ट थे, उन पुष्ट प्राणों के नाश होने से उसके द्रव्यप्राण पीड़ित हुए; वही उसकी द्रव्यहिंसा है।

इसप्रकार चोरी करने से चोरी करनेवाले की तथा जिसकी चोरी हुई है, उसकी द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसायें होती हैं।

चोरी प्रकट रूप से हिंसा है ह

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।

हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥

अन्वयार्थ ह (यः) जो (जनः) मनुष्य (यस्य) जिस जीव के (अर्थान्) पदार्थों अथवा धन को (हरति) हर लेता है, (सः) वह मनुष्य (तस्य) उस जीव के (प्राणान्) प्राणों को (हरति) हर लेता है; क्योंकि जगत में (ये) जो (एते) यह (अर्थाः नाम) धनादि पदार्थ प्रसिद्ध हैं, (एते) वे सभी (पुंसां) मनुष्यों के (बहिश्चराः प्राणाः) बाह्य-प्राण (सन्ति) हैं।

टीका ह 'ये एते अर्थाः नाम एते पुंसाम् बहिश्चराः प्राणाः सन्ति यस्मात् यः जनः यस्य अर्थान् हरति स तस्य प्राणान् हरति।' ह

बाह्य जितने भी पदार्थ हैं, वे मनुष्य के बाह्यप्राण हैं। इसलिए जो जीव जिस किसी का धन हरण कर लेता है, चुरा लेता है; वह उसके प्राणों का ही हरण कर लेता है।

भावार्थ ह धन, धान्य, सम्पत्ति, बैल, घोड़ा, दास, दासी, घर, जमीन, पुत्र, स्त्री, वस्त्रादि जितने भी पदार्थ जिस जीव के पास हैं, उतने ही उसके बाह्यप्राण हैं। उन पदार्थों में से किसी एक भी पदार्थ का नाश होने पर अपने प्राणघात जैसा दुःख उत्पन्न होता है। इसलिए पदार्थों को ही प्राण कहा जाता है। 'अन्नं वै प्राणा इति वचनात्' ह अन्न ही प्राण हैं, इस वचन के अनुसार।

हिंसा और चोरी में अव्यापकता नहीं, किन्तु व्यापकता है ह

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटमेव सा यस्मात्।

ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥१०४॥

अन्वयार्थ ह (हिंसायाः) हिंसा में (च) और (स्तेयस्य) चोरी में

(अव्याप्तिः) अव्याप्तिदोष (न) नहीं है, (सा सुघटमेव) वह हिंसा बराबर घटित होती है, (यस्मात्) कारण कि (अन्यैः) दूसरे के द्वारा (स्वीकृतस्य) स्वीकृत (द्रव्यस्य) द्रव्य के (ग्रहणे) ग्रहण में (प्रमत्तयोगः) प्रमाद का योग है।

टीका ह 'हिंसायाः च स्तेयस्य अव्याप्तिः न सा सुघटमेव यस्मात् अन्यैः स्वीकृतस्य द्रव्यस्य ग्रहणे प्रमत्तयोगः भवति।' ह

हिंसा और चोरी में अव्याप्तिपना नहीं है, बल्कि भले प्रकार व्यापकपना है; क्योंकि दूसरे जीव ने प्राप्त किए पदार्थों में अपनेपन की कल्पना की थी; उसे ग्रहण करने में प्रमाद सहित योग होता ही है।

भावार्थ ह यदि किसी जीव को किसी काल में (जिस समय) जहाँ चोरी है, वहाँ हिंसा न हो तो अव्याप्तिदूषण हो सकता है; किन्तु प्रमाद बिना चोरी बनती नहीं।

प्रमाद का नाम ही हिंसा है और चोरी में प्रमाद अवश्य है ही। इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि जहाँ-जहाँ चोरी है, वहाँ-वहाँ हिंसा अवश्य ही है।

हिंसा और चोरी में अतिव्याप्तिपना भी नहीं है ह

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।

अपि कर्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ॥१०५॥

अन्वयार्थ ह (च) और (नीरागाणाम्) वीतरागी पुरुषों के (प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्) प्रमत्तयोगरूप एक कारण के विरोध से (कर्मानुग्रहणे) द्रव्यकर्म-नोकर्म की वर्गणाओं को ग्रहण करने में (अपि) निश्चय से (स्तेयस्य) चोरी की (अविद्यमानत्वात्) अनुपस्थिति से (तयोः) उन दोनों में अर्थात् हिंसा और चोरी में (अतिव्याप्तिः) अतिव्याप्ति भी (न) नहीं है।

टीका ह 'तयोः (हिंसास्तेययोः) अतिव्याप्तिः च न अस्ति यतः नीरागाणां प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् कर्मानुग्रहणे अपि हिंसायाः अविद्यमानत्वात्।' ह

हिंसा और चोरी में अतिव्याप्तिपना भी नहीं है। अर्थात् चोरी हो और हिंसा न हो, ऐसा नहीं है तथा हिंसा हो और चोरी न हो, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि वीतरागी महापुरुषों के प्रमाद सहित योग का कारण नहीं है। इसलिए द्रव्यकर्म-नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण होते हुए भी, प्रमाद न होने से चोरी का सद्भाव नहीं है।

भावार्थ ह्य बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण चोरी है। वीतरागी महापुरुषों के कर्म-नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है और वे वर्गणायें किसी की दी हुई नहीं हैं। वहाँ उनके चोरी का प्रसंग आता; परन्तु प्रमाद और योग बिना चोरी नहीं कहलाती।

प्रमादयोग है, वही हिंसा है। इसलिए अतिव्याप्ति दोष नहीं आता। यदि हिंसा (प्रमाद योग) बिना चोरी हो सकती है तो अतिव्याप्ति दोष आता।

अतः यह बात सिद्ध हुई कि जहाँ चोरी है, वहाँ हिंसा है; इसलिए अतिव्याप्ति नहीं। जहाँ हिंसा नहीं, वहाँ चोरी भी नहीं। (तथा जहाँ चोरी नहीं, वहाँ हिंसा भी नहीं) इसकारण अतिव्याप्ति नहीं; अतः चोरी हिंसारूप ही है।

चोरी के त्याग का प्रकार ह्य

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।

तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥१०६॥

अन्वयार्थ ह्य (ये) जो जीव (निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्) दूसरे के कुआँ, बावड़ी आदि जलाशयों का जल इत्यादि त्याग (कर्तुम्) करने में (असमर्था) असमर्थ हैं, (तैः) उन्हें (अपि) भी (अपरं) अन्य (समस्तं) सर्व (अदत्तं) बिना दी हुई वस्तुओं के ग्रहण करने का (नित्यम्) हमेशा (परित्याज्यम्) त्याग करना योग्य है।

टीका ह्य 'ये (जीवाः) निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् कर्तुम् असमर्थाः तैः (जीवैः) अपि नित्यं समस्तम् अदत्तं अपरं परित्याज्यम्।' ह्य

जो जीव कुआँ, नदी, बावड़ी आदि के पीनेरूप जल से लेकर मिट्टी आदि प्रमुख वस्तुएँ (जो सामान्य जनता के उपयोग के लिए होती हैं), उनके ग्रहण का त्याग करने में अशक्त हैं, उन्हें भी हमेशा दूसरे के द्वारा दी हुई वस्तुओं के अलावा अन्य समस्त वस्तुओं के ग्रहण का त्याग करना चाहिए।

भावार्थ ह्य चोरी का त्याग भी दो प्रकार से है - एक सर्वथा त्याग और दूसरा एकदेश त्याग। सर्वथा त्याग तो मुनिधर्म में ही होता है। अतः वह बन सके तो अवश्य ही करना चाहिए।

यदि कदाचित् न बने तो एकदेश त्यागरूप श्रावक धर्म का पालन अवश्य करना चाहिए। श्रावक कुआँ, नदी आदि का पानी, खान की मिट्टी इत्यादि किसी के बिना पूछे भी ग्रहण कर ले तो उसका नाम चोरी नहीं है और समस्त ही बिना दी हुई पर वस्तुओं का त्याग करता है।



धन्य ! आज का दिन !!

चैतन्य की मस्ती में मस्त मुनि को देखते हुए गृहस्थ को ऐसा भाव आता है कि अहा! रत्नत्रय साधनेवाले संत को शरीर की अनुकूलता रहे ह्य ऐसा आहार-औषध देऊँ, जिससे वे रत्नत्रय को निर्विघ्न साधें, इसमें मोक्षमार्ग का बहुमान है। अहो ! धन्य ये सन्त और धन्य आज का दिन कि मेरे आंगन में मोक्षमार्गीं मुनिराज के चरण पड़े..... आज तो मेरे आँगन में साक्षात् मोक्षमार्ग आया...। अहा ! धन्य ऐसे मोक्षमार्गीं मुनियों को जिन्हें देखते ही श्रावक का हृदय बहुमान से उछल जाता है। जिसे धर्मी के प्रति भक्ति नहीं, आदर नहीं; उसे धर्म का भी प्रेम नहीं।

ह्य पूज्य श्री कानजी स्वामी

ब्रह्मचर्याणुव्रत

कुशील/अब्रह्म का स्वरूप ह

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म ।

अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥१०७॥

अन्वयार्थ ह (यत्) जो (वेदरागयोगात्) वेद के रागरूप योग से (मैथुनं) स्त्री-पुरुषों का सहवास (अभिधीयते) कहा जाता है (तत्) वह (अब्रह्म) अब्रह्म है और (तत्र) उस सहवास में (वधस्य) प्राणिवध का (सर्वत्र) सर्व स्थान में (सद्भावात्) सद्भाव होने से (हिंसा) हिंसा (अवतरति) होती है ।

टीका ह 'यत् वेदरागयोगात् मैथुनं अभिधीयते तत् अब्रह्म भवति तत्र हिंसा अवतरति (यतः) सर्वत्र वधस्य सद्भावात् ।'ह

स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद के परिणामरूप रागभाव सहित योग से मैथुन अर्थात् स्त्री-पुरुष का मिलकर काम सेवन करना कुशील है ह (अब्रह्म है) उस कुशील में हिंसा उत्पन्न होती है; कारण कि (कुशील करने और करानेवाले के) सर्वत्र हिंसा का सद्भाव है ।

भावार्थ ह स्त्री की योनि, नाभि, कुच और काँख में मनुष्याकार सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं । इसलिए स्त्री के साथ सहवास करने में द्रव्यहिंसा होती है तथा स्त्री और पुरुष दोनों के कामरूप परिणाम होते हैं, जिससे भावहिंसा होती है ।

शरीर की शिथिलतादि के निमित्त से अपने द्रव्यप्राण का घात होता है । पर जीव स्त्री या पुरुष के विकारी परिणाम का कारण है । अथवा उसको पीड़ा उत्पन्न होती है, उसके परिणाम विकारी होते हैं, इससे अन्य जीव के भावप्राण का घात होता है तथा मैथुन में बहुत जीव मरते हैं । इसतरह अन्य जीव के द्रव्यप्राण का घात होता है ।

मैथुन में प्रकटरूप से हिंसा है ह

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् ।

बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥१०८॥

अन्वयार्थ ह (यद्वत्) जैसे (तिलनाल्यां) तिल से भरी हुई नली में (तप्तायसि विनिहिते) गरम लोहे की शलाका डालने से (तिलाः) तिल (हिंस्यन्ते) भुन जाते हैं (तद्वत्) वैसे ही (मैथुने) मैथुन के समय (योनौ) योनि में भी (बहवः जीवाः) बहुत से जीव (हिंस्यन्ते) मर जाते हैं ।

टीका ह 'यद्वत् तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते (सति) तिलाः हिंस्यन्ते तद्वत् योनौ मैथुने (कृते सति) बहवः जीवाः हिंस्यन्ते ।'ह

भावार्थ ह जैसे तिलों से भरी हुई बाँस की नली में अत्यन्त गरम की हुई लोहे की शलाका डाली जाये, तो सब तिल भुन जाते हैं । उसीप्रकार स्त्री के अंग में पुरुष के अंग से मैथुन करने पर योनिगत सर्व जीव तुरन्त ही मरण को प्राप्त होते हैं ह यही प्रकट द्रव्यहिंसा है ।

कोई कहे कि अनङ्गक्रीड़ा में तो हिंसा नहीं होती? उससे कहते हैं ह

यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि ।

तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥१०९॥

अन्वयार्थ ह और (अपि) तदुपरान्त (मदनोद्रेकात्) काम की उत्कटता से (यत् किञ्चित्) जो कुछ (अनंगरमणादि) अनंगक्रीड़ा (क्रियते) की जाती है (तत्रापि) उसमें भी (रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्) रागादि की उत्पत्ति के कारण (हिंसा) हिंसा (भवति) होती है ।

टीका ह 'यत् अपि मदनोद्रेकात् अनंगरमणादि किञ्चित् क्रियते तत्रापि हिंसा भवति रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ।'ह जो जीव तीव्र चारित्रमोह कर्म के उदय से (उदय में संयुक्त होने से) तीव्र कामविकार होने के कारण अनंगक्रीड़ा (काम सेवन करने योग्य अंगों को छोड़कर अन्य अंगों द्वारा क्रीड़ा) करता है, वहाँ भी हिंसा होती है ।

भावार्थ ह्य अंग अर्थात् लिंग और योनि के संयोग बिना अन्य तरह से काम क्रीड़ा करना अनंग-क्रीड़ा है। कारण कि हिंसा का होना रागादि की उत्पत्ति के अधीन है। यदि रागादि न हों तो हिंसा कभी नहीं हो सकती।

राग तीव्र न हो तो कामक्रीड़ा क्यों करे? जो राग है, सो उसका नाम ही हिंसा है। इससे सिद्ध हुआ कि अनंगक्रीड़ा में भी हिंसा होती है।

कुशील के त्याग का क्रम ह्य

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।

निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥११०॥

अन्वयार्थ ह्य (ये) जो जीव (मोहात्) मोह के कारण (निजकलत्रमात्रं) अपनी विवाहिता स्त्री को ही (परिहर्तुं) छोड़ने में (हि) निश्चय से (न शक्नुवन्ति) समर्थ नहीं हैं, (तैः) उन्हें (निःशेषशेषयोषिन्निषेवणम् अपि) बाकी की समस्त स्त्रियों का सेवन तो कदापि (न) नहीं (कार्यम्) करना चाहिए।

टीका ह्य 'ये (जीवाः) हि मोहात् निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं हि न शक्नुवन्ति तैरपि निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं न कार्यम्।' ह्य जो जीव चारित्रमोहनीय के उदय से (उदयवश) अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़ने में समर्थ नहीं हैं, उन्हें भी (अपनी विवाहिता स्त्री के अलावा) संसार की अन्य समस्त स्त्री के साथ कामसेवन नहीं करना चाहिए और अपनी विवाहिता स्त्री में ही सन्तोष रखना चाहिए - यह एकदेश ब्रह्मचर्यव्रत है।

भावार्थ ह्य सर्वथा त्याग तो मुनि-धर्म में है। स्त्री मात्र के साथ काम सेवन करने का त्याग करना महाव्रत है, सो बन सके तो इसे अंगीकार करना चाहिए; यदि कदाचित् न बने तो एकदेश त्यागरूप श्रावक धर्म अंगीकार करे।

श्रावक के तो अपनी विवाहित स्त्री का ही सेवन होता है तो भी वेश्या, दासी, परस्त्री, कुमारी इत्यादि का सेवन सर्वथा नहीं करना।

परिग्रहपरिमाण व्रत

परिग्रह पाप का स्वरूप ह्य

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।

मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥१११॥

अन्वयार्थ ह्य (इयं) यह (या) जो (मूर्च्छा नाम) मूर्च्छा है (एषः) इसे ही (हि) निश्चय से (परिग्रहः) परिग्रह (विज्ञातव्यः) जानना चाहिए (तु) और (मोहोदयात्) मोह के उदय से (उदीर्णः) उत्पन्न हुआ (ममत्वपरिणामः) ममत्वरूप परिणाम ही (मूर्च्छा) मूर्च्छा है।

टीका ह्य 'या इयं मूर्च्छा नाम हि एषः परिग्रहः विज्ञातव्यः तु (पुनः) मोहोदयात् उदीर्णः ममत्वपरिणामः मूर्च्छा (अस्ति)।' ह्य हे भव्य जीवो! इस मूर्च्छा को ही निश्चय से परिग्रह जानो। मूर्च्छा किसे कहते हैं?

चारित्रमोहनीय कर्म के उदय को प्राप्त हुआ जो ममत्वपरिणाम (अर्थात् 'यह मेरा है' - ऐसा परिणाम) है, वही मूर्च्छा है।

ममत्वपरिणाम ही वास्तविक परिग्रह है, इस बात को दृढ़ करते हैं ह्य

मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।

सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः ॥११२॥

अन्वयार्थ ह्य (परिग्रहत्वस्य) परिग्रहपने का (मूर्च्छालक्षणकरणात्) मूर्च्छा लक्षण करने से (व्याप्तिः) व्याप्ति (सुघटा) भले प्रकार से घटित होती है; क्योंकि (शेषसंगेभ्यः) बाह्य परिग्रह (विना अपि) बिना भी (मूर्च्छावान्) मूर्च्छा करनेवाला पुरुष (किल) निश्चय से (सग्रन्थः) बाह्य परिग्रह सहित है।

टीका ह्य 'परिग्रहत्वस्य मूर्च्छालक्षणकरणात् व्याप्तिः सुघटा (यतः) किल शेषसंगेभ्यः विना अपि मूर्च्छावान् सग्रन्थः।' ह्य

परिग्रहभाव का लक्षण मूर्च्छा किया, उसमें व्याप्ति भले प्रकार बनती है; क्योंकि धन, धान्यादि बाह्य परिग्रह बिना भी ममत्वपरिणामवाला जीव परिग्रह सहित होता है।

भावार्थ ह्य साहचर्य के नियम को व्याप्ति कहते हैं अर्थात् जहाँ लक्षण हो वहाँ लक्ष्य भी हो, उसका नाम व्याप्ति है। इसलिए जहाँ-जहाँ मूर्च्छा है, वहाँ-वहाँ परिग्रह अवश्य है। जहाँ मूर्च्छा नहीं है, वहाँ परिग्रह भी नहीं है। मूर्च्छा की परिग्रह के साथ व्याप्ति है।

कोई जीव नग्न है, बाह्य परिग्रह से रहित है, परन्तु यदि अन्तरंग में मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणाम है तो वह परिग्रहवान ही है; अतः मूर्च्छा परिग्रह का लक्षण अव्याप्ति दूषण से रहित है।

(ममत्व के त्यागी दिगम्बर मुनि के पीछी, कमण्डलरूप बाह्य परिग्रह होने पर भी अन्तरंग में ममत्व नहीं है, इसलिए वे वास्तविक परिग्रह से रहित ही हैं)।

शंकाकार की शंका व उसका समाधान ह्य

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरंगः।

भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ॥११३॥

अन्वयार्थ ह्य (यदि) जो (एवं) ऐसा है अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह होवे (तदा) तो (खलु) निश्चय से (बहिरंगपरिग्रहः) बाह्य परिग्रह (कः अपि न) कुछ भी नहीं सिद्ध होता तो ऐसा नहीं है, (यतः) क्योंकि (असौ) यह बाह्य परिग्रह (मूर्च्छानिमित्तत्वम्) मूर्च्छा के निमित्तपने को (नितरां) अतिशयरूप से (धत्ते) धारण करता है।

टीका ह्य प्रश्न ह्य 'खलु यदि एवं भवति तदा बहिरंगः कः अपि परिग्रहः न (स्यात्)।' ह्य

उत्तर ह्य 'यः असौ (बहिरंगः) नितरां मूर्च्छानिमित्तत्वं धत्ते' ह्य यहाँ कोई तर्क करता है कि यदि निश्चय से मूर्च्छा का नाम ही परिग्रह है, तो फिर धन-धान्यादि बाह्य वस्तु परिग्रह नहीं ठहरी। इनको परिग्रह किसलिए कहते हो? श्रीगुरु उत्तर देते हैं ह्य यह धन-धान्यादि तो अत्यन्तरूप से परिग्रह हैं; क्योंकि बाह्य वस्तु ही मूर्च्छा का कारण है।

भावार्थ ह्य परिग्रह का लक्षण तो मूर्च्छा ही है; परन्तु बाह्य धन - धान्यादि वस्तु मूर्च्छा उत्पन्न करने के लिए (निमित्त) कारण है, इसलिए उसे भी परिग्रह कहा जाता है।

प्रश्न तथा उत्तर कहते हैं ह्य

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।

यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ॥११४॥

अन्वयार्थ ह्य (एवं) इसप्रकार (परिग्रहस्य) बाह्य परिग्रह की (अतिव्याप्तिः) अतिव्याप्ति (स्यात्) होती है, (इति चेत्) यदि ऐसा कहते हो तो (एवं) ऐसा (न भवेत्) नहीं होता (यस्मात्) कारण कि (अकषायाणां) कषायरहित अर्थात् वीतरागी पुरुषों को (कर्मग्रहणे) कार्मावर्गणा के ग्रहण में (मूर्च्छा) मूर्च्छा (नास्ति) नहीं है।

टीका ह्य 'एवं परिग्रहस्य अतिव्याप्तिः स्यात् इति चेत् न एवं भवेत् यस्मात् अकषायाणां कर्मग्रहणे मूर्च्छा नास्ति।' ह्य यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यदि बाह्य परिग्रह को मूर्च्छा उत्पन्न करने का निश्चयकारण कहते हो तो (मूर्च्छा परिग्रहः) इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है; क्योंकि अर्हन्त अवस्था में भी कार्मावर्गणा तथा नोकर्मवर्गणा ह्य इन दोनों के ग्रहणरूप परिग्रह है, वहाँ भी मूर्च्छा हो जायेगी, अतः अतिव्याप्ति होगी। तो ऐसा नहीं है, कारण कि कषायरहित जीवों के कर्म-नोकर्म का ग्रहण होने पर भी मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणाम नहीं है।

भावार्थ ह्य अतिव्याप्ति तो तब हो, जब निष्परिग्रही वीतरागी महापुरुषों के मूर्च्छा हो; किन्तु वह तो उनके होती नहीं। अतः अर्हन्त वीतरागी भगवान के कर्म-नोकर्म का ग्रहण होने पर भी मूर्च्छा के अभाव से परिग्रह नहीं कहलाता; इसलिए अतिव्याप्ति दोष नहीं है। बाह्य वस्तु मूर्च्छा उत्पन्न करने में कारण मात्र है; इसलिए उसको उपचार से परिग्रह कह दिया है, परमार्थ से परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा ही है।

परिग्रह के भेद ह

अतिसंक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।

प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ॥११५॥

अन्वयार्थं ह (स) वह परिग्रह (अतिसंक्षेपात्) अत्यन्त संक्षेप से (आभ्यन्तरः) अन्तरंग (च) और (बाह्यः) बहिरंग (द्विविधः) दो प्रकार का (भवेत्) है (च) और (प्रथमः) पहला अन्तरंग परिग्रह (चतुर्दशविधः) चौदह प्रकार का (तु) तथा (द्वितीयः) दूसरा बहिरंग परिग्रह (द्वितीयः) दो प्रकार का (भवति) है।

टीका ह 'स (परिग्रहः) अति संक्षेपात् द्विविधः आभ्यन्तरः बाह्यश्च। प्रथमः (आभ्यन्तरः) चतुर्दशविधः भवति। द्वितीयस्तु द्विविधः भवति'।

वह परिग्रह संक्षेप में दो प्रकार का है ह पहला आभ्यन्तर, दूसरा बाह्य। अन्तरंग आत्मा के परिणाम को आभ्यन्तर परिग्रह कहते हैं। बाहर के सभी पदार्थों को बाह्य परिग्रह कहते हैं। पहला परिग्रह चौदह प्रकार का है तथा दूसरा बाह्य परिग्रह दो प्रकार का है।

आभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद ह

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः।

चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥११६॥

अन्वयार्थं ह (मिथ्यात्ववेदरागाः) मिथ्यात्व, स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद का राग (तथैव च) इसी तरह (हास्यादयः) हास्यादि अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये (षड् दोषाः) छह दोष (च) और (चत्वारः कषायाः) चार कषाय अर्थात् क्रोध, मान माया, लोभ अथवा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन ये चार कषायभाव ह इस भाँति (आभ्यन्तराः ग्रन्थाः) अन्तरंग परिग्रह (चतुर्दश) चौदह हैं।

टीका ह 'आभ्यन्तराः ग्रन्थाः मिथ्यात्ववेदरागाः तथैव हास्यादयः षड् दोषाः च चत्वारः कषायाः चतुर्दश (भवन्ति)।' ह

आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार का है ह (१) मिथ्यात्व- तत्त्वार्थ का अश्रद्धानरूप मिथ्यात्व भाव, (२) पुरुषवेद- स्त्री के प्रति अभिलाषारूप परिणाम, (३) स्त्रीवेद-पुरुष के प्रति अभिलाषारूप परिणाम, (४) नपुंसकवेद - स्त्री तथा पुरुष दोनों के प्रति अभिलाषारूप परिणाम, (५) हास्य, (६) रति, (७) अरति, (८) शोक, (९) भय, (१०) जुगुप्सा, (११) क्रोध, (१२) मान, (१३) माया, (१४) लोभ अथवा अनन्तानुबन्धी आदि चार कषायें - ये चौदह आभ्यन्तर परिग्रह हैं।

बाह्य परिग्रह के दो भेद कहकर उसे हिंसामय बताते हैं ह

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।

नैषः कदापि संगः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम् ॥११७॥

अन्वयार्थं ह (अथ) इसके बाद (बाह्यस्य) बहिरंग (परिग्रहस्य) परिग्रह के (निश्चित्तसचित्तौ) अचित्त और सचित्त ये (द्वौ) दो (भेदौ) भेद हैं (एषः) यह (सर्वः अपि) सभी (सङ्गः) परिग्रह (कदापि) किसी भी समय (हिंसां) हिंसा का (न अतिवर्तते) उल्लंघन नहीं करते अर्थात् कोई भी परिग्रह कभी भी हिंसा रहित नहीं है।

टीका ह 'अथ बाह्यस्य परिग्रहस्य निश्चित्तसचित्तौ द्वौ भेदौ (भवतः)

एषः सर्वः अपि संगः हिंसां कदापि न अतिवर्तते।' ह

बाह्य परिग्रह अचेतन और सचेतन के भेद से दो प्रकार का है। सोना, चाँदी, मकान, वस्त्रादि चेतना रहित पदार्थ अचित्त तथा पुत्र, कलत्र, दासी, दासादि प्रमुख चेतना सहित पदार्थ सचित्त कहे जाते हैं ह ये दोनों ही प्रकार के परिग्रह हिंसा का उल्लंघन नहीं करते अर्थात् कोई भी परिग्रह हिंसा बिना नहीं हैं।

हिंसा-अहिंसा का लक्षण कहकर इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं ह

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति।

द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥११८॥

अन्वयार्थ ह (जिनप्रवचनज्ञाः) जैन सिद्धान्त के ज्ञाता (आचार्याः) आचार्य (उभयपरिग्रहवर्जनं) दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को (अहिंसा) अहिंसा (इति) ऐसा और (द्विविधपरिग्रहवहनं) दोनों प्रकार के परिग्रह धारण करने को (हिंसा इति) हिंसा ऐसा (सूचयन्ति) सूचित करते हैं ह कहते हैं।

टीका ह 'जिनप्रवचनज्ञाः आचार्याः उभयपरिग्रहवर्जनम् अहिंसा (भवति) इति सूचयन्ति तथा द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसा (भवति इति) सूचयन्ति।' ह जैन सिद्धान्त के ज्ञाता आचार्यों ने, दोनों प्रकार के अन्तरंग और बाह्य परिग्रह का त्याग करना ही अहिंसा है; यह रहस्य कहा है।

तथा दोनों प्रकार के परिग्रह का धारण करना ही हिंसा है ह ऐसा कहते हैं। परिग्रह के त्याग बिना अहिंसा की सिद्धि नहीं होती है।

दोनों परिग्रहों में हिंसा है - ऐसा बताते हैं ह

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरंगसंगेषु।

बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्॥११९॥

अन्वयार्थ ह (हिंसापर्यायत्वात्) हिंसा की पर्यायरूप होने से (अन्तरंगसंगेषु) अन्तरंग परिग्रह में (हिंसा) हिंसा (सिद्धा) स्वयं सिद्ध है (तु) और (बहिरंगेषु) बहिरंग परिग्रहों में (मूर्च्छा) ममत्व परिणाम (एव) ही (हिंसात्वम्) हिंसाभाव को (नियतम्) निश्चय से (प्रयातु) प्राप्त होता है।

टीका ह 'अन्तरंगसंगेषु हिंसापर्यायत्वात् हिंसा सिद्धा तु (पुनः) बहिरंगेषु नियतं मूर्च्छा एव हिंसात्वं प्रयातु।' ह अन्तरंग चौदह प्रकार के परिग्रह के सभी भेद हिंसा की पर्याय होने से हिंसा स्वयं सिद्ध ही है। बहिरंग परिग्रह में निश्चय से ममत्वपरिणाम है, वह हिंसा को प्राप्त होता है।

भावार्थ ह अन्तरंग परिग्रह जो मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार का है, वह जीव का विभाव (विकारी) परिणाम है, इसलिए वह हिंसा ही है; परन्तु बाह्यवस्तु में भी निश्चय से ममत्वपरिणाम है, वही हिंसा का कारण है। बाह्यवस्तु में जो ममत्वपरिणाम है, उसी का नाम परिग्रह है।

केवली भगवान के समवशरणादि विभूति होती है; परन्तु ममत्व परिणाम बिना परिग्रह नहीं है। अथवा यदि कोई परिग्रह को अंगीकार करके कहे कि मेरे तो ममत्वपरिणाम नहीं है तो यह बात झूठ है; कारण कि वह ममत्व बिना अंगीकार होता ही नहीं है।

यदि बहिरंग पदार्थ में ममत्वपरिणाम का होना ही परिग्रह है तो सभी में समानरूप से ही परिग्रहजन्य पापबन्ध होना चाहिए।

प्रश्नोत्तर कहते हैं ह

एवं न विशेषः स्यादुन्दुरिपुहरिणशावकादीनाम्।

नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छाविशेषेण॥१२०॥

अन्वयार्थ ह (एवं) यदि ऐसा ही हो अर्थात् बहिरंग में ममत्वपरिणाम का नाम ही मूर्च्छा हो तो (उन्दुरिपुहरिणशावकादीनाम्) बिल्ली और हरिण के बच्चे वगैरह में (विशेषः) कोई विशेषता (न स्यात्) न रहे; परन्तु (एवं) ऐसा (न भवति) नहीं है; क्योंकि (मूर्च्छाविशेषेण) ममत्वपरिणामों की विशेषता से (तेषां) उस बिल्ली और हरिण के बच्चे इत्यादि जीवों में (विशेषः) विशेषता है अर्थात् समानता नहीं है।

टीका ह 'यदि एवं (तर्हि) उन्दुरिपु-हरिणशावकादीनाम् विशेषः न, एवं न भवति तेषां मूर्च्छाविशेषेण विशेषः भवति।' ह

यहाँ कोई शंका करता है कि यदि बाह्यपदार्थ में ही ममत्वपरिणाम हिंसा का कारण है और वह ममत्वपरिणाम सामान्य रीति से सभी जीवों के होता है। अतः सभी जीवों के समान पाप होना चाहिए। जिसप्रकार मांसाहारी बिल्ली और घास खानेवाले हरिण के बच्चे में भोजन करने संबंधी ममत्वपरिणाम सामान्यरूप से समान ही है, बहिरंग का कुछ प्रयोजन कहा नहीं।

इसके उत्तर में आचार्य भगवान उससे कहते हैं कि बात वास्तव में ऐसी नहीं है। बिल्ली और हरिण के बच्चों के संबंध में भी विशेषता है, समानता नहीं है; क्योंकि बिल्ली के बच्चे तो मांस खाने के तीव्र परिणाम हैं और हरिण के बच्चे के घास खाने के मन्द परिणाम हैं। बस, ममत्व की विशेषता अधिकता - हीनता से ही विशेषता है।

ममत्व/मूर्च्छा में विशेषता ह

हरिततृणांकुरचारिणि मंदा मृगशावके भवति मूर्च्छा।

उन्दुरुनिकरोन्माथिनि मार्जारै सैव जायते तीव्रा॥१२१॥

अन्वयार्थ ह (हरिततृणांकुरचारिणि) हरी घास के अंकुर खानेवाले (मृगशावके) हरिण के बच्चे में (मूर्च्छा) मूर्च्छा (मन्दा) मन्द (भवति) होती है और (सा एव) वही मूर्च्छा (उन्दुरुनिकरोन्माथिनि) चूहों के समूह का उन्मथन करनेवाली (मार्जरै) बिल्ली में (तीव्रा) तीव्र (जायते) होती है।

टीका ह 'हरिततृणांकुरचारिणि मृगशावके मन्दा मूर्च्छा भवति तथा सा एव मूर्च्छा उन्दुरुनिकरोन्माथिनि मार्जरि तीव्रा जायते।' ह

हरी घास खानेवाला हरिण का बच्चा है, उसे घास खाने में भी ममत्व बहुत थोड़ा है और चूहों के समूह को खानेवाली बिल्ली को चूहे खाने में बहुत तीव्र ममत्व है ह बस, यही इन दोनों में विशेषता है।

भावार्थ ह प्रथम तो हरिण के बच्चे को हरी घास में अधिक लालसा नहीं है, फिर उसे खाने में बहुत सरागता भी नहीं है तथा खाते समय यदि किंचित् भी भय मालूम पड़े तो तत्काल छोड़कर भाग खड़ा होता है। इससे ज्ञात होता है कि उसके आसक्ति - ममत्वपरिणाम बहुत तीव्र नहीं है।

चूहों के समूह को मारनेवाली बिल्ली को चूहे खाने की लालसा बहुत है और चूहों को मारने के पश्चात् उन्हें खाने में सरागता भी विशेष है तथा जिस समय वह चूहों को खा रही हो, उससमय उसके ऊपर लाठी की चोटें भी पड़ें तो भी बड़ी मुश्किल से ही उसे छोड़ती है।

इससे ज्ञात होता है कि हरिण के बच्चे और बिल्ली की मूर्च्छा में बहुत अन्तर है। इसी भाँति बहुत आरम्भ-परिग्रहवाले तथा अल्प आरम्भ परिग्रहवाले जीवों में भी परिणामों का अन्तर जानना।

इस ही प्रयोजन को सिद्ध करते हैं ह

निर्बाधं संसिध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात्।

औधस्यखण्डयोरिह माधुर्यप्रीतिभेद इव॥१२२॥

अन्वयार्थ ह (औधस्यखण्डयोः) दूध और खांड में (माधुर्यप्रीतिभेदः इव) मधुरता के प्रीतिभेद की तरह (इह) इस लोक में (हि) निश्चय से (कारणविशेषात्) कारण की विशेषता से (कार्यविशेषः) कार्य की विशेषता (निर्बाधं) बाधा रहित (संसिध्येत्) भले प्रकार से सिद्ध होती है।

टीका ह 'हि कारणविशेषात् कार्यविशेषः निर्बाधं संसिध्येत् यथा औधस्यखण्डयोः इह माधुर्यप्रीतिभेदः इव भवति।' ह

निश्चय से कारण की विशेषता होने से कार्य की विशेषता होती है। जैसे गाय के दूध में और खांड में कम-बढ़ मिठास होने के कारण कम-बढ़ प्रीति होती है। गाय के थन के ऊपर जो दूध रहने की थैली होती है, उसे औध कहते हैं, उसमें उत्पन्न होनेवाली वस्तु को औधस्य अर्थात् दूध कहते हैं।

भावार्थ ह ऐसा नियम है कि जैसा कारण हो, वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है। जैसे दूध में मिठास कम है और शक्कर में मिठास अधिक है, इसलिए दूध में प्रीति कम होती है और शक्कर में विशेष होती है।

इसके उदाहरण को प्रकट करते हैं ह

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये।

सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा॥१२३॥

अन्वयार्थ ह (किल) निश्चय से (मन्दमाधुर्ये) थोड़ी मिठासवाले (दुग्धे) दूध में (माधुर्यप्रीतिः) मिठास की रुचि (मन्दा) थोड़ी (एव) ही (व्यपदिश्यते) कहने में आती है और (सा एव) वही मिठास की रुचि (उत्कटमाधुर्ये) अत्यन्त मिठासवाली (खण्डे) खांड में (तीव्रा) अधिक कहने में आती है।

टीका ह 'किल मन्दमाधुर्ये दुग्धे माधुर्यप्रीतिः मन्दा व्यपदिश्यते तथा सैव माधुर्यप्रीतिः उत्कटमाधुर्ये खण्डे तीव्रा व्यपदिश्यते।' ह

निश्चय से थोड़ी मिठासवाले दूध में मिष्ट रस की रुचिवाले पुरुष को रुचि बहुत थोड़ी होती है और अधिक मिठासवाली शक्कर में उसी पुरुष को अत्यधिक होती है।

भावार्थ ह्व जैसे कोई मनुष्य मिष्ट रस का अभिलाषी है तो उसको दूध में रुचि कम होती है और खांड में रुचि अधिक होती है। उसीप्रकार जिस पुरुष को पदार्थ में जितना ममत्वभाव होगा, वह पुरुष उतना ही हिंसा का भागीदार होगा; अधिक का नहीं, भले ही उसके पास वह पदार्थ उपस्थित हो अथवा न हो।

प्रश्न ह्व यहाँ कोई बहुत आरम्भ-परिग्रह करनेवाला जीव कहता है कि हमारे ममत्वभाव नहीं है, बाह्य में परिग्रह अधिक है तो क्या हुआ?

उत्तर ह्व उससे कहते हैं कि ऐसा नहीं बन सकता; क्योंकि यदि ममत्वभाव न होता तो बाह्य परिग्रह एकत्र ही किसलिए किया? और यदि बाह्य परिग्रह होने पर भी कोई पुरुष यदि ममत्व का त्यागी हो तो उन बाह्य पदार्थों को क्षणमात्र में छोड़ सकता है। इसलिए सिद्ध हुआ कि ममत्वभाव बिना बाह्य पदार्थों का संग्रह नहीं हो सकता। जैसे-जैसे ममत्वभाव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अपने लिए बाह्य पदार्थों का संग्रह भी करता जाता है।

ऐसा नहीं हो सकता कि बाह्य परिग्रह तो अंगीकार करता जाये और कहे कि मेरे अन्तरंग में ममत्वभाव नहीं है।

हिंसा में तो ऐसा बनता है कि बाह्य हिंसा हो जाये और अन्तरंग शुद्ध हो अर्थात् किसी को भावहिंसा के बिना भी द्रव्यहिंसा तो हो सकती है; परन्तु बाह्य पदार्थों का संग्रह अर्थात् परिग्रह का अंगीकार ममत्वभाव के बिना नहीं हो सकता।

परिग्रह त्याग करने का उपाय ह्व

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।

सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः॥१२४॥

अन्वयार्थ ह्व (प्रथमम्) पहले (एव) ही (तत्त्वार्थाश्रद्धाने) तत्त्वार्थ के अश्रद्धान में जिसने (निर्युक्तं) संयुक्त किया है ऐसा (मिथ्यात्वं) मिथ्यात्व (च) और (सम्यग्दर्शनचौराः) सम्यग्दर्शन के चोर (चत्वारः) चार (प्रथमकषायाः) पहले कषाय अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान-माया और लोभ हैं।

टीका ह्व 'प्रथमं तत्त्वार्थाश्रद्धाने मिथ्यात्वं निर्युक्तं एव मिथ्यात्वं च चत्वारः प्रथमकषायाः सम्यग्दर्शनचौराः सन्ति।' ह्व

पहले तत्त्वार्थ के मिथ्याश्रद्धान में जिसको संयुक्त किया है अर्थात् पहला मिथ्यात्व नाम का अन्तरंग परिग्रह है और पहली चौकड़ी अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ - ये चार।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन के ये पाँच चोर हैं। जबतक इनका नाश नहीं होता, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता।

भावार्थ ह्व यहाँ यह बताया जा रहा है कि इन चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रहों का त्याग किस रीति से किया जाये।

प्रथम ही यह जीव जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तब मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का नाश करता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा तो पाँच का नाश होता है और सादि (मिथ्यादृष्टि) की अपेक्षा सात का नाश होता है। ये दो भेद अन्तरंग परिग्रह के हुए।

तात्पर्य यह है कि पहले ही यह जीव, मिथ्यात्व नामक परिग्रह का त्याग करता है, तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होना ही मिथ्यात्व है। पश्चात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ को भी उसी तत्त्वार्थ के श्रद्धान के साथ विदा कर देता है; क्योंकि ये चारों सम्यक्त्व के चोर हैं। इनकी उपस्थिति में सम्यग्दर्शन नहीं रह सकता। इसीलिए अनन्त संसार का कारण जानकर इनका नाम अनन्तानुबन्धी रखा है, इनकी वासना भी (संख्यात, असंख्यात तथा) अनन्तकाल तक रहती है।

अवशेष भेद बताते हैं ह्व

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः।

नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति॥१२५॥

अन्वयार्थ ह्व (च) और (द्वितीयान्) दूसरे कषाय अर्थात्

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, कान, माया, लोभ को (प्रविहाय) छोड़कर (देशचरित्रस्य) देशचारित्र के (सन्मुखायातः) सन्मुख आता है (हि) कारण कि (ते) वे (कषायाः) कषायें (नियतं) निश्चितरूप से (देशचरित्रं) एकदेश चारित्र को (निरुन्धन्ति) रोकती हैं।

टीका ह्य 'च श्रावकाः द्वितीयान् अप्रत्याख्यान क्रोधादीन् चतुष्कान् प्रविहाय देशचरित्रस्य सन्मुखायातः भवन्ति हि ते कषायाः नियतं देशचरित्रं निरुन्धन्ति ।' ह्य सम्यग्दृष्टि श्रावक उन अप्रत्याख्यानावरण^१ क्रोध, मान, माया, लोभ - इन चार कषायों का नाश करके देशचारित्र के सन्मुख होता है अर्थात् ग्रहण करता है। कारण कि निश्चय से वही अप्रत्याख्यानावरणादि चारों देशव्रती श्रावक के व्रतों का घात करते हैं तथा इनका वासना काल छः माह तक रहता है। इसतरह यह अन्तरंग परिग्रह का तीसरा भेद हुआ।

अन्य परिग्रह के भी त्याग को कहते हैं ह्य

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम् ।

कर्त्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया ॥१२६॥

अन्वयार्थ ह्य इसलिए (निजशक्त्या) अपनी शक्ति से (मार्दव-शौचादिभावनया) मार्दव, शौच, संयमादि दशलक्षण धर्म द्वारा (शेषाणां) अवशेष (सर्वेषाम्) सभी (अन्तरङ्गसङ्गानाम्) अन्तरंग परिग्रहों का (परिहारः) त्याग (कर्त्तव्यः) करना चाहिए।

टीका ह्य 'शेषाणाम् सर्वेषां अन्तरङ्गसङ्गानां निजशक्त्या मार्दव-शौचादिभावनया परिहारः कर्त्तव्यः ।' ह्य

अवशेष सभी प्रकार के अन्तरंग परिग्रह हैं, उनको अपनी शक्ति अनुसार अपने कोमल परिणाम तथा सन्तोषरूपी धर्म भावना से त्याग करना अर्थात् यथाक्रम सबका त्याग करना चाहिए।

१. अप्रत्याख्यानावरण-अ=ईषत्-थोड़ा, प्रत्याख्यान=त्यागको, आवरण=आच्छादित करनेवाला।

भावार्थ ह्य अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का है। उनके नाम इसी ग्रन्थ के श्लोक ११६ में बताए गए हैं। मिथ्यात्व, चौकड़ीरूप चार कषाय तथा हास्यादि नौ नोकषाय^१ इसतरह चौदह भेद हैं; इनका क्रमपूर्वक त्याग करना।

इनमें से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय हैं। वे सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र का घात करती हैं। अप्रत्याख्यानावरण नामक चार कषायें हैं, वे देशचारित्र का घात करती हैं अर्थात् श्रावकपद नहीं होने देतीं।

प्रत्याख्यानावरण नामक चार कषायें सकलसंयम का घात करती हैं अर्थात् मुनिपद नहीं होने देतीं। (प्रत्याख्यान सर्वथा त्याग को कहते हैं) तथा संज्वलनादि चार कषाय, हास्यादि छह और तीन वेद ये सभी यथाख्यातचारित्र के घात में निमित्त हैं।

प्रत्याख्यानवरण कषाय का वासनाकाल एक पक्ष का है। संज्वलन कषाय सकल संयम के साथ दैदिप्यमान / प्रकाशमान रहती है। सकल संयम के घातक सब कषाय का त्याग अवश्य करे, न बने तो श्रावकधर्म के लिए आवश्यक मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी चतुष्क एवं अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क का अवश्य त्याग करना चाहिए।

(निजशक्ति के बल से) इसप्रकार इन सभी व्रतों को क्रमपूर्वक धारण करके अन्तरंग परिग्रह को क्रमपूर्वक छोड़ना चाहिए।

बाह्य परिग्रह के त्याग का क्रम ह्य

बहिरङ्गादपि सङ्गात् यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः ।

परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥१२७॥

अन्वयार्थ ह्य (वा) तथा (तम्) उस बाह्य परिग्रह को (अचित्तं) भले ही वह अचेतन हो (वा) या (सचित्तं) सचेतन हो (अशेषं) सम्पूर्णरूप से (परिवर्जयेत्) छोड़ देना चाहिए (यस्मात्) कारण कि (बहिरङ्गात्) बहिरंग (सङ्गात्) परिग्रह से (अपि) भी (अनुचितः) अयोग्य अथवा निन्द्य (असंयमः) असंयम (प्रभवति) होता है।

१. नोकषाय= १ हास्य, २ रति, ३ अरति, ४ शोक, ५, भय, ६ जुगुप्सा, (ग्लानि) ७ स्त्रीवेद, ८ पुरुषवेद, ९ नपुंसकवेद।

टीका ह्य 'यस्मात् बहिरङ्गात् अपि संगत् अनुचितः असंयमः भवति । तस्मात् तम् अचित्तं सचित्तं वा अशेषं परिग्रहं परिवर्जयेत् ।' ह्य

चूँकि बाह्य धन-धान्यादि परिग्रह से भी अयोग्य/निन्दनीय महान असंयम होता है । अर्थात् जबतक परिग्रह रहता है; तबतक संयम एवं चारित्र नहीं हो सकता है । इसलिए वह बाह्य परिग्रह भले ही अजीव हो या सजीव हो ह्य दोनों ही प्रकार का परिग्रह त्याग करने योग्य है ।

भावार्थ ह्य बाह्य परिग्रह में संसार के सभी पदार्थ प्रायः आ जाते हैं । इसलिए बाह्य परिग्रह के सजीव और अजीव ऐसे दो भेद किये हैं । रुपया, पैसा, खेती आदि अजीव परिग्रह हैं । हाथी, घोड़ा, बैल, नौकर-चाकर आदि सजीव परिग्रह हैं । इनका भी एकदेश और सर्वदेश त्याग होता है । अतः इस परिग्रह का सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

यदि सर्वदेश त्याग न कर सकें तो एकदेश त्याग करें-ऐसा कहते हैं ह्य योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः ।

सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम् ॥१२८॥

अन्वयार्थ ह्य (अपि) और (यः) जो (धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः)

धन, धान्य, मनुष्य, गृह, सम्पदा इत्यादि परिग्रह (त्यक्तुम्) सर्वथा छोड़ना (न शक्यः) शक्य न हो (सः) तो उसे (अपि) भी (तनू) न्यून (करणीयः) कर देना चाहिए (यतः) कारण कि (निवृत्तिरूपं) त्यागरूप ही (तत्त्वम्) वस्तु का स्वरूप है ।

१. तत्त्व निवृत्तिरूप है उसका अर्थ ह्य प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से सदा परिपूर्ण ही है और परद्रव्यादि से शून्य अर्थात् निवृत्तिरूप ही है । वर्तमान अशुद्ध दशा में परद्रव्य के आलम्बन से रागी जीवों को बाह्यसामग्री के प्रति ममत्वरूप राग भूमिकानुसार होता है, उसका स्वाश्रय के बल से त्याग कराने के लिए बाह्यपदार्थ के त्याग का उपदेश है । वास्तव में तो आत्मा के परवस्तु का त्याग ही है । किन्तु जो कुछ राग, ममत्वभाव है, उसके त्यागरूप निर्मल परिणाम जितने अंशों में होते हैं, उतने ही अंशों में रागादि की उत्पत्ति ही नहीं होती । जहाँ ऐसा होवे वहाँ उस जीव को पर वस्तु के त्याग का कर्ता कहना, वह उस जाति के अभावरूप निमित्त का ज्ञान कराने के लिए असद्भूत व्यवहारनय का कथन है । (निश्चय सम्यग्दर्शन बिना अज्ञानी के हठरूप त्याग को व्यवहार से भी धर्म संज्ञा नहीं होती) ।

टीका ह्य 'यः अप मनुष्यः धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः त्यक्तुं न शक्तः सः अपि मनुष्यः धनधान्यादिकः तनूकरणीयः यतः तत्त्वं निवृत्तिरूपम् अस्ति ।' ह्य

जो प्राणी धन (गाय-भैंस आदि), धान्य (गेहूँ-यवादि अन्न) मनुष्यादि (पुत्रादिक अथवा दासादिक), वास्तु (मकानादि), वित्त (सोना, चाँदी, रुपया आदि) इत्यादि समस्त बहिरंग (दस प्रकार के) परिग्रह को सर्वथा छोड़े । यदि सर्वथा छोड़ने में अशक्त हो, उसे उसमें से थोड़ा परिग्रह रखने का परिणाम करना चाहिए, कारण तत्त्व त्यागरूप ही है ।

भावार्थ ह्य बहिरंग परिग्रह मूलतः सजीव और अजीव के भेद से दो प्रकार का है । दोनों के दश भेद हैं ह्य क्षेत्र, मकान, चाँदी-सोना, धन-चार पगवाले पशु, वस्त्र, पात्र, अनाज, दासी^१-दास इत्यादि बाह्य परिग्रह

इनका यदि सम्पूर्ण त्याग न कर सके तो (जितना अपने पास वर्तमान में विद्यमान हो, उसमें से जितना बन सके, उतना कम कर देना) अपनी आवश्यकतानुसार परिमाण करके ही परिग्रह रखना और शेष का त्याग करना, कारण कि तत्त्व त्यागरूप है ।

जबतक यह आत्मा त्यागधर्म^२ का आचरण नहीं करता है, तबतक उसे मोक्ष नहीं मिल सकता । निवृत्ति नाम भी मोक्ष का ही है ।

इसप्रकार हिंसादि पाँचों पापों का विस्तृत वर्णन किया ।



१. दासी-दासादि को द्विपद= दो पैरवाला कहने में आता है ।

२. त्यागधर्म = जिस प्रकार प्रकाश की उत्पत्ति के बिना अंधेरा नहीं टलता, उसी प्रकार निज शुद्धात्मा के आश्रय द्वारा निर्मल श्रद्धा-ज्ञान और स्वरूप में एकाग्रतारूप शुद्ध परिणति की प्राप्ति किए बिना राग का त्याग अर्थात् वीतरागी धर्मरूप मोक्ष का उपाय औो मोक्ष नहीं मिलता ।

रात्रिभोजन त्याग

रात्रिभोजन त्याग का वर्णन करते हैं ह

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा ।

हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥१२९॥

अन्वयार्थ ह (यस्मात्) कारण कि (रात्रौ) रात में (भुञ्जानानां) भोजन करनेवाले को (हिंसा) हिंसा (अनिवारिता) अनिवार्य (भवति) होती है (तस्मात्) इसलिए (हिंसाविरतैः) हिंसा के त्यागियों को (रात्रिभुक्तिः अपि) रात्रि भोजन का भी (त्यक्तव्या) त्याग करना चाहिए ।

टीका ह 'यस्मात् रात्रौ भुञ्जानानाम् अनिवारिता हिंसा भवति तस्मात् हिंसाविरतैः रात्रिभुक्तिः अपि त्यक्तव्या ।' ह

रात में भोजन करनेवाले को हिंसा अवश्य ही होती है; क्योंकि रात्रि भोजन में हिंसा का निवारण किसी भी प्रकार नहीं हो सकता । अतः हिंसा के त्यागियों को रात्रिभोजन का त्याग अवश्य ही करना चाहिए ।

भावार्थ ह रात्रि में भोजन करने से जीवों की हिंसा अवश्य ही होती है । प्रायः ऐसे छोटे-छोटे बहुत जीव हैं, जो रात में ही गमन करते हैं । दीपक के प्रकाश के प्रेम से दीपक के पास आते हैं । अतः रात में चूल्हा जलाने में, पानी आदि भरने में, चक्री से पीसने में, भोजन बनाने में नियम से असंख्य जीवों की हिंसा होती है ।

इसलिए हिंसा का त्याग करनेवाले दयालु पुरुषों को रात में खाने का अवश्य ही त्याग करना चाहिए ।

रात्रिभोजन में भावहिंसा भी होती है ह

रागाद्युदयपरत्वादनित्यवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम् ।

रात्रि-दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न सम्भवति ॥१३०॥

अन्वयार्थ ह (अनिवृत्तिः) अत्यागभाव (रागाद्युदयपरत्वात्) रागादि-भावों के उदय की उत्कटता से (हिंसां) हिंसा को (न-अतिवर्तते) उल्लंघन करके नहीं प्रवर्तते, तो (रात्रिदिवम्) रात और दिन (आहरतः) आहार करनेवाले को (हि) निश्चय से (हिंसां) हिंसा (कथं) क्यों (न सम्भवति) संभव नहीं होगी?

टीका ह 'रागादि उदयपरत्वात् अनिवृत्तिः (अत्यागः) हिंसा न अतिवर्तते; यतः रात्रिदिवम् आहरतः (भुञ्जानस्य) हि हिंसा कथं न सम्भवति? अपितु सम्भवति एव ।' ह

भोजन में और शरीर में रागादिभाव उत्कृष्ट होने के कारण रागादि का अत्यागपना हिंसा का उल्लंघन नहीं कर सकता । जहाँ जीव के उत्कृष्ट रागभाव होता है, वहाँ त्याग नहीं हो सकता और रागभाव ही हिंसा है । अतः जहाँ तक रागादि का त्याग नहीं है; वहाँ तक अहिंसा नहीं है, अपितु हिंसा ही है । तो फिर रात-दिन खानेवाले को हिंसा क्यों न हो? उसे हिंसा नियम से होती ही है ।

रागादि का होना ही वास्तविक हिंसा का लक्षण है ।

शंकाकार की शंका ह

यद्येवं तर्हि दिवा कर्त्तव्यो भोजनस्य परिहारः ।

भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥१३१॥

अन्वयार्थ ह (यदि एवं) यदि ऐसा है अर्थात् सदाकाल भोजन करने में हिंसा है (तर्हि) तो (दिवा भोजनस्य) दिन में भोजन करने का (परिहारः) त्याग (कर्त्तव्यः) कर देना चाहिए (तु) और (निशायां) रात में (भोक्तव्यं) भोजन करना चाहिए, क्योंकि (इत्थं) इस तरह से (हिंसा) हिंसा (नित्यं) सदाकाल (न भवति) नहीं होगी ।

टीका ह 'यदि एवं तर्हि दिवा भोजनस्य परिहारः तु निशायां भोक्तव्यम् । इत्थं नित्यं हिंसा न भवति' । ह

यहाँ कोई तर्क करता है कि दिन और रात दोनों समय भोजन करने से हिंसा होती है तो दिन में भोजन का त्याग करके रात में ही भोजन ग्रहण करना चाहिए, जिससे सदाकाल हिंसा न हो। ऐसा ही नियम किसलिए बनाया कि दिन में ही भोजन किया जाये और रात में न किया जाये?

आचार्य इसका उत्तर देते हैं ह

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ।

अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥१३२॥

अन्वयार्थ ह (एवं न) ऐसा नहीं है कारण कि (अन्नकवलस्य) अन्न के ग्रास के (भुक्तेः) भोजन से (मांसकवलस्य) मांस के ग्रास के (भुक्तौ इव) भोजन में जिसप्रकार राग अधिक होता है, उसी प्रकार (वासरभुक्तेः) दिन के भोजन की अपेक्षा (रजनिभुक्तौ) रात्रिभोजन से (हि) निश्चय से (रागादिकः) अधिक राग (भवति) होता है।

टीका ह 'हि रजनिभुक्तौ अधिकः रागः भवति वासरभुक्तेः एवं न भवति यथा अन्नकवलस्य भुक्तौ मांसकवलस्य भुक्तौ इव।' ह

हे तार्किक ! जैसा तू कहता है, वैसा नहीं है। निश्चय से रात्रिभोजन करने में अधिक रागभाव है और दिन में भोजन करने में कम रागभाव है। जैसे अन्न के भोजन में कम रागभाव है और मांस के भोजन में अधिक रागभाव है।

भावार्थ ह उदर भरने की अपेक्षा तो दोनों भोजन समान हैं; परन्तु प्रत्येक प्राणी को अन्न, दूध, घी इत्यादि खाने में तो साधारण रागभाव है अर्थात् न्यून लोलुपता है; क्योंकि अन्न का आहार तो सर्व मनुष्यों को सहज ही है। इसलिए प्रायः अधिक प्राणी तो अन्न का ही भोजन करते हैं तथा मांस के भोजन में कामादिक की अपेक्षा अथवा शरीर के स्नेह-मोह की अपेक्षा विशेष रागभाव होता है; क्योंकि मांस का भोजन सभी मनुष्यों का स्वाभाविक - प्राकृतिक आहार नहीं है।

उसीतरह दिन के भोजन में प्रायः सभी प्राणियों को साधारण रागभाव है; क्योंकि दिवा भोजन सर्व प्राणियों को होता है तथा रात के भोजन में कामादिक की अपेक्षा तथा शरीर में अधिक स्नेह की अपेक्षा अधिक रागभाव है। इसलिए रात का भोजन बहुत कम मनुष्यों के होता है।

यह स्वाभाविक बात है कि दिन में भोजन करने से जितनी अच्छी तरह से पाचन होता है और जितना अच्छा स्वास्थ्य रहता है, उतना रात में खाने से कभी नहीं रह सकता। इसलिए रात्रि भोजन का त्याग करना चाहिए और दिन में ही भोजन करना चाहिए। इसप्रकार शंकाकार की शंका का निराकरण हुआ।

रात्रिभोजन में द्रव्यहिंसा ह

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम्।

अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥१३३॥

अन्वयार्थ ह तथा (अर्कालोकेन विना) सूर्य के प्रकाश बिना रात में (भुञ्जानः) भोजन करनेवाला मनुष्य (बोधितः प्रदीपे) जलते हुए दीपक में (अपि) भी (भोज्यजुषां) भोजन में मिले हुए (सूक्ष्मजीवानाम्) सूक्ष्म जीवों की (हिंसा) हिंसा (कथं) किसतरह (परिहरेत्) टाल सकता है?

टीका ह 'बोधितः प्रदीपे अपि अर्कालोकेन विना भुञ्जानः भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् हिंसां कथं परिहरेत्'?

रात में दीपक जलाने पर भी सूर्य के प्रकाश के बिना रात्रि में भोजन करनेवाला पुरुष, भोजन में प्रीति रखनेवाले सूक्ष्म जन्तु वगैरह हैं, उनकी हिंसा से नहीं बच सकता।

भावार्थ ह रात्रि में बिना दीपक जलाये जो पुरुष भोजन करता है, उसके आहार में तो बड़े-बड़े छिपकली आदि जीव भी पड़ जायें, तब भी उनका पता नहीं चलता। यदि दीपक जलाकर सावधानी भी बर्ती जाये, तो भी उसके भोजन में दीपक के सम्बन्ध से तथा भोज्य पदार्थ के सम्बन्ध से आने वाले छोटे-छोटे पतंगे तथा मच्छर आदि अवश्य गिरते हैं और उनकी हिंसा भी अवश्यम्भावी है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि रात्रिभोजी मनुष्य द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसाओं से बच नहीं सकता। अतः अहिंसाव्रत पालन करने वाले को रात्रिभोजन अवश्य त्याग देना चाहिए। जो मनुष्य रात्रि को सिंगाड़ा आदि की पकोड़ी, पूड़ी आदि लाकर या बनाकर खाते हैं, वे भी दोनों प्रकार की हिंसा करते हैं।

रात्रिभोजन के त्याग को कहते हैं ह

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।

परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ॥१३४॥

अन्वयार्थ ह (वा) अथवा (बहुप्रलपितैः) बहुत प्रलाप से (किं) क्या? (यः) जो पुरुष (मनोवचनकायैः) मन, वचन, काय से (रात्रि भुक्तिं) रात्रि भोजन का (परिहरति) त्याग करता है, (सः) वह (सततम्) निरन्तर (अहिंसां) अहिंसा का (पालयति) पालन करता है (इति सिद्धम्) ऐसा सिद्ध हुआ।

टीका ह 'वा बहुप्रलपितैः किम् इति सिद्धं यः मनोवचनकायैः रात्रिभुक्तिं परिहरति सः सततम् अहिंसां पालयति।' ह अथवा बहुत कहने से क्या? यह बात सिद्ध हुई कि जो मनुष्य मन, वचन, काय से रात्रिभोजन का त्याग करता है, वह निरन्तर अहिंसाव्रत का पालन करता है।

भावार्थ ह रात्रिभोजन करने में और रात में भोजन बनाने में सदैव हिंसा है। रात्रि में भोजन करने की अपेक्षा रात्रि में भोजन बनाने में बहुत अधिक हिंसा होती है। इसलिए अहिंसाव्रत पालन करनेवाले को प्रथम ही इसका त्याग करना चाहिए। खासतौर से बाजार के बने हुए पदार्थों का तो बिलकुल ही त्याग करना चाहिए।

वास्तव में रात्रिभोजन के त्याग बिना अहिंसाव्रत की सिद्धि होती ही नहीं। इसलिए कोई आचार्य तो इसे अहिंसाणुव्रत में गर्भित करते हैं और कोई इसे जुदा ही षष्ठम अणुव्रत कहते हैं।

रात्रिभोजन के त्यागरूप कथन को संकोचते हैं ह

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।

अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥१३५॥

अन्वयार्थ ह (इति) इसप्रकार (अत्र) इस लोक में (ये) जो (स्वहितकामाः) अपने हित के इच्छुक (मोक्षस्य) मोक्ष के (त्रितयात्मनि) रत्नत्रयात्मक (मार्गे) मार्ग में (अनुपरतं) सर्वदा बिना अटके हुए (प्रयतन्ते) प्रयत्न करते हैं। (ते) वे पुरुष (मुक्तिं) मोक्ष में (अचिरेण) अल्प काल में ही (प्रयान्ति) गमन करते हैं।

टीका ह 'ये (पुरुषाः) स्वहितकामाः इत्यत्र त्रितयात्मनि मोक्षमार्गे अनुपरतं प्रयतन्ते ते (पुरुषाः) अचिरेण मुक्तिं प्रयान्ति।' ह

जो जीव अपने हित की इच्छा करता हुआ इस रीति से रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में सदैव प्रयत्न करता रहता है, वह जीव शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

भावार्थ ह जीव मात्र का हित मोक्ष है, संसार में अन्य कहीं भी आनन्द नहीं है। अतः जो जीव मोक्ष में जाने के इच्छुक हैं, उन्हें सदैव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग में निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए। जो जीव मोक्ष की मात्र चर्चा-वार्ता तो करता रहे; किन्तु मोक्ष के मार्ग की खोज न करे और इसके अनुसार चलने का प्रयत्न न करे तो कभी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते। जो जीव उसके मार्ग में चलते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं, वे जीव तुरन्त ही मोक्ष के परमधाम में पहुँच जाते हैं।

इसप्रकार (तत्त्वज्ञानपूर्वक) पाँचों पाप के त्याग सहित पाँच अणुव्रत तथा रात्रिभोजन के त्याग का वर्णन करके अब सात शीलव्रतों का वर्णन करते हैं; क्योंकि सात शीलव्रत पाँच अणुव्रतों की रक्षा करने के लिए नगर के कोट समान हैं।

जैसे किला नगर का रक्षण करता है। वैसे ही सात शीलव्रत पाँच अणुव्रतों की रक्षा करते हैं, वही कहते हैं ह

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।

व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥

अन्वयार्थ ह (किल) निश्चय से (परिधयः इव) जैसे कोट, किला (नगराणि) नगरों की रक्षा करता है, उसीतरह (शीलानि) तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत - ये सात शील (व्रतानि) पाँचों अणुव्रतों का (पालयन्ति) पालन अर्थात् रक्षण करते हैं, (तस्मात्) इसलिए (व्रतपालनाय) व्रतों का पालन करने के लिए (शीलानि) सात शीलव्रत (अपि) भी (पालनीयानि) पालन करना चाहिए।

टीका ह 'किल शीलानि व्रतानि पालयन्ति परिधयः नगराणि इव तस्मात् व्रतपालनाय शीलानि अपि पालनीयानि ।'ह

भावार्थ ह निश्चय से जो सात शीलव्रत हैं, वे पाँचों अणुव्रतों की रक्षा करते हैं, जिसप्रकार कोट नगर की रक्षा करता है। इसलिए पाँच अणुव्रतों का पालन करने के लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत - इसप्रकार इन सात शीलव्रतों का अवश्य पालन करना ही चाहिए।

अब उनका ही वर्णन करते हैं, वह सुनो। तीन गुणव्रतों के नाम ह

१. दिग्ब्रत, २. देशव्रत, ३. अनर्थदण्डत्यागव्रत।

चार शिक्षाव्रतों के नाम ह

१. सामायिक, २. प्रोषधोपवास, ३. भोगोपभोगपरिमाणव्रत, ४.

वैयावृत्य ह इस प्रकार ये सात शीलव्रत हैं।



तीन गुणव्रतों का स्वरूप

पहले दिग्ब्रत नाम के गुणव्रत का स्वरूप कहते हैं ह

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः ।

प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्त्तव्या विरतिरविचलिता ॥१३७॥

अन्वयार्थ ह (सुप्रसिद्धैः) भले प्रकार प्रसिद्ध (अभिज्ञानैः) ग्राम, नदी, पर्वतादि भिन्न-भिन्न लक्षणों से (सर्वतः) सभी दिशाओं में (मर्यादां) मर्यादा (प्रविधाय) करके (प्राच्यादिभ्यः) पूर्वादि (दिग्भ्यः) दिशाओं में (अविचलिता विरतिः) गमन न करने की प्रतिज्ञा (कर्त्तव्या) करनी चाहिए।

टीका ह 'सुप्रसिद्धैः अभिज्ञानैः सर्वतः मर्यादां प्रविधाय प्राच्या - दिग्भ्यः दिग्भ्यः अविचलिता विरतिः कर्त्तव्या ।'ह

प्रसिद्ध तथा सर्वविदित महान पर्वतादि, नगरादि अथवा समुद्रादि से सीमा बाँधकर जीवन पर्यन्त चार दिशा, चार विदिशा और ऊपर तथा नीचे - इसप्रकार दशों दिशाओं में जाने की प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए। तत्पश्चात् उस बाँधी हुई मर्यादा से बाहर जीवनभर न जाने को दिग्ब्रत कहते हैं।

यहाँ पर्वत इत्यादि अथवा हवाई जहाज में बैठकर ऊपर जाने की अपेक्षा ऊर्ध्वदिशा का और कुआँ या समुद्रादि में घुसने की अपेक्षा अधोदिशा का ग्रहण किया गया है।

दिग्ब्रत पालन करने का फल ह

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य ।

सकलासंयमविरहाद् भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥१३८॥

अन्वयार्थ ह (यः) जो (इति) इसप्रकार (नियमितदिग्भागे) मर्यादा की हुई दिशाओं के अन्दर (प्रवर्तते) रहता है (तस्य) उस पुरुष को (ततः)

उस क्षेत्र के (बहिः) बाहर के (सकलासंयमविरहात्) समस्त असंयम के त्याग के कारण (पूर्ण) परिपूर्ण (अहिंसाव्रतं) अहिंसाव्रत (भवति) होता।

टीका ह्य 'यः (पुरुषः) इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते तस्य ततः बहिः सकलासंयमविरहात् पूर्णम् अहिंसाव्रतं भवति'।

जो मनुष्य इस भाँति मर्यादित दशों दिशाओं के क्षेत्र के अन्दर ही अपना सारा कार्य करता है, उसको उन क्षेत्रों से बाहर समस्त ही असंयम का त्याग होने के कारण सम्पूर्ण अहिंसाव्रत (महाव्रत) पल जाता है। अतः दिग्ब्रत पालन करने से अहिंसाव्रत पुष्ट होता है।

दूसरे देशव्रत नामक गुणव्रत का स्वरूप ह्य

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्।

प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥१३९॥

अन्वयार्थ ह्य (च) और (तत्र अपि) उस दिग्ब्रत में भी (ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्) ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला इत्यादि का (परिमाणं) परिमाण (प्रविधाय) करके (देशात्) मर्यादा किये हुए क्षेत्र से बाहर (नियतकालं) अपने निश्चित किये हुए समय तक जाने का (विरमणं) त्याग (करणीयं) करना चाहिए।

टीका ह्य 'तत्रापि च (दिग्ब्रते अपि) ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् नियतकालं परिमाणं प्रविधाय देशात् विरमणं करणीयम्।'ह्य

दिग्ब्रत में दशों दिशाओं की मर्यादा की थी। उसमें भी ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला वगैरह तक एक दिन, एक सप्ताह, एक पक्ष, महीना, अयन, वर्ष इत्यादि निश्चित काल तक जाने-आने का प्रमाण करके बाहर के क्षेत्र से विरक्त होना, देशव्रत कहलाता है। इस देशव्रत से भी अहिंसा का पालन होता है।

देशव्रत नामक गुणव्रत का लाभ ह्य

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्।

तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥१४०॥

अन्वयार्थ ह्य (इति) इसप्रकार (बहुदेशात् विरतः) बहुत क्षेत्र का त्याग करनेवाला (विमलमतिः) निर्मल बुद्धिवाला श्रावक (तत्कालं) उस नियमित काल में (तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्) मर्यादाकृत क्षेत्र से बाहर उत्पन्न होनेवाली हिंसा विशेष के त्याग से (विशेषेण) विशेष रूप से (अहिंसां) अहिंसाव्रत का (श्रयति) आश्रय करता है।

टीका ह्य 'इति बहुदेशात् विरतः विमलमतिः तत्कालं तदुत्थहिंसा-विशेषपरिहारात् विशेषेण अहिंसां श्रयति।'ह्य

इसप्रकार दिग्ब्रत में किए हुए क्षेत्र का परिमाण करके उस क्षेत्र से बाहर हिंसा का त्याग होने पर भी उत्तम बुद्धिवाला श्रावक, जो उससमय दूसरे भी थोड़े क्षेत्र की मर्यादा करता है तो वह विशेषरूप से अहिंसा का आश्रय करता है।

जिस पुरुष ने जीवनभर के लिए दक्षिण में कन्याकुमारी और उत्तर में हिमालय तक जाने का दिग्ब्रत किया है, वह हमेशा तो हिमालय नहीं जाता। इसलिए वह रोजाना ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि आज मैं अमुक गाँव में ही रहूँगा, उससे बाहर नहीं जाऊँगा।

अतः जिस दिन वह उस गाँव में ही रहने का नियम कर लेता है, उस दिन उस गाँव के बाहर के प्रदेश में अहिंसा महाव्रत का पालन हो जाता है।

तीसरे अनर्थदण्डत्याग नामक गुणव्रत का स्वरूप ह्य

बिना प्रयोजन पाप के उत्पन्न करने के त्याग को अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं ह्य १. अपध्यानत्यागव्रत २. पापोपदेशत्यागव्रत, ३. प्रमादचर्यात्यागव्रत, ४. हिंसादानत्यागव्रत, ५. दुःश्रुतित्यागव्रत।

पहले अपध्यान अनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप ह्य

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः।

न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥१४१॥

अन्वयार्थं ह (पापर्द्धि-जय-पराजय-सङ्गर-परदारगमन-चौर्याद्याः) शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदि का (कदाचनापि) किसी भी समय (न चिन्त्याः) चिन्तवन नहीं करना चाहिए (यस्मात्) कारण कि इन अपध्यानों का (केवलं) मात्र (पापफलं) पाप ही फल है।

टीका ह 'पापर्द्धि-जय-पराजय-सङ्गर-परदारगमन-चौर्याद्याः कदा - चना अपि न चिन्त्याः यस्मात् केवलं पापफलं भवति।' ह

शिकार करने को अर्थात् इस जीव को इसप्रकार मारे, ऐसा भाव करना। संग्राम में किसी की जीत, किसी की हार, स्वयं की बाह्य वस्तुरूप परिग्रह की व्याप्तिरूप अभिलाषा, परस्त्रीगमन करने का चिंतवन अथवा चोरी करने का इत्यादि खराब हूँ खोटे कार्यों का जिनके करने से मात्र पाप ही होता है, उनका कभी भी चिंतवन नहीं करना चाहिए।

अपने परिणामों से पाप कर्मों का बन्धन विशेष होता है; किन्तु किसी भी कार्य की कुछ भी सिद्धि नहीं होती। अतः जिस बात का विचार करने से केवल पाप का ही बन्धन होता है, उसे ही अपध्यान कहते हैं। स्वरूप में विशेष सावधानी द्वारा उसका त्याग करना ही अपध्यान अनर्थदण्डत्यागव्रत है।

दूसरे पापोपदेश नामक अनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप हूँ

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्।

पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥१४२॥

अन्वयार्थं ह (विद्या-वाणिज्य-मषी-कृषी-सेवा-शिल्पजीविनां) विद्या, व्यापार, लेखनकला, खेती, नौकरी और कारीगरी से निर्वाह चलानेवाले (पुंसाम्) पुरुषों को (पापोपदेशदानं) पाप का उपदेश मिले ऐसा वचन (कदाचित् अपि) किसी भी समय (नैव) नहीं (वक्तव्यम्) बोलना चाहिए।

टीका ह 'विद्या-वाणिज्य-मषी-कृषि-सेवा-शिल्पजीविनां पुंसाम् पापोपदेशदानं वचनं कदाचित् अपि नैव वक्तव्यम्।' ह

विद्या अर्थात् वैद्यक, ज्योतिष आदि करनेवाला, अन्नादिक का व्यापार करनेवाला, लेखनकार्य करनेवाला, खेती करने वाला, नौकरी-चाकरी करनेवाला तथा लुहार, सुनार, दर्जी आदि के काम करनेवालों को इन्हीं कार्यों सम्बन्धी अथवा दूसरा कोई भी पापबन्ध करने वाला कार्य हो, उसका किसी को भी उपदेश नहीं देना चाहिए हूँ इसी को पापोपदेश अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं।

भावार्थं ह अन्य जीव की आजीविका के लिए नाना प्रकार के मकान आदि बनाने के समस्त पाप उत्पन्न करने वाले कार्यों का अपने वचन से उपदेश नहीं देना चाहिए। जो वह सुखी होगा तो वह कुछ सुख अपने को नहीं बाँटेगा और वचन के द्वारा बिना प्रयोजन ही पाप उत्पन्न करेगा, उसका फल अपने को ही भोगना पड़ेगा। इसलिए बिना प्रयोजन पापदायक वचन नहीं बोलना, इसे पापोपदेश अनर्थदण्ड त्याग कहते हैं हूँ

तीसरे प्रमादचर्या अनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप हूँ

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि।

निष्कारणं न कुर्यादलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥१४३॥

अन्वयार्थं ह (भूखनन-वृक्षमोट्टन-शाड्वलदलन-अम्बुसेचना-दीनि) पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाड़ना, अतिशय घासवाली भूमि रौंदना, पानी सींचना आदि (च) और (दलफलकुसुमोच्चयान्) पत्र, फल, फूल तोड़ना (अपि) इत्यादि भी (निष्कारणं) बिना प्रयोजन (न कुर्यात्) नहीं करना चाहिए।

टीका ह 'निष्कारणं भूखनन-वृक्षमोट्टन-शाड्वलदलन-अम्बुसे-चनादीनि च दलफलकुसुमोच्चयान् अपि च न कुर्यात्।' ह

बिना प्रयोजन पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाड़ना, घास को रौंदना, पानी सींचना, फैलाना तथा पत्ता, फल, फूल तोड़ना इत्यादि कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए।

भावार्थ ह्व गृहस्थ श्रावक अपने प्रयोजन के लिए भूमिकानुसार विवेक पूर्वक आवश्यक कार्य करता है; परन्तु जिसमें अपना कुछ भी स्वार्थ न हो, जैसे कि रास्ता चलते वनस्पति आदि तोड़ना, भूमि खोदते चलना इत्यादि व्यर्थ के काम नहीं करता, उसे ही प्रमादचर्या अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं।

चौथे हिंसाप्रदान अनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप ह्व

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्।

वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४॥

अन्वयार्थ ह्व (असिधेनु-विष-हुताशन-लाङ्गल-करवाल कार्मुकादीनाम्) छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष आदि (हिंसायाः) हिंसा के (उपकरणानां) उपकरणों का (वितरणम्) वितरण करना अर्थात् दूसरों को देना (यत्नात्) सावधानी से (परिहरेत्) छोड़ देना चाहिए।

टीका ह्व 'हिंसायाः उपकरणानाम् असिधेनु-विष-हुताशन-लाङ्गल-करवाल-कार्मुकादीनां परिहरेत्।' ह्व

हिंसा करने के साधन छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष-बाण आदि का देना प्रयत्न से दूर करे अर्थात् अन्य को नहीं देना चाहिए, इसी को हिंसादान अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं।

जिन वस्तुओं के देने से हिंसा होती हो, उन वस्तुओं का उपयोग प्रयोजनवश अपने लिए तो कर सकते हैं; किन्तु अन्य को वे वस्तुएँ कभी भी नहीं देना चाहिए।

पाँचवें दुःश्रुति अनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप ह्व

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।

न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४५॥

अन्वयार्थ ह्व (रागादिवर्द्धनानां) राग, द्वेष, मोहादि को बढ़ानेवाली तथा (अबोधबहुलानाम्) बहुत अंशों में अज्ञान से भरी हुई (दुष्टकथानाम्) दुष्ट कथाओं का (श्रवणार्जनशिक्षणादीनि) सुनना, धारण करना, सीखना आदि (कदाचन) किसी समय, कभी भी (न कुर्वीत) नहीं करना चाहिए।

टीका ह्व 'अबोध (मिथ्यात्व) बहुलानां रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानां श्रवणार्जनशिक्षणादीनि न कदाचन कुर्वीत।' ह्व

मिथ्यात्वसहित राग, द्वेष, वैरभाव, मोह, मदादि बढ़ानेवाली कुकथाओं का श्रवण तथा नवीन कथायें बनाना, वाँचना वगैरह कभी भी नहीं करना चाहिए, इसे ही दुःश्रुति अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं।

भावार्थ ह्व जो कथा सुनने से, पढ़ने से और सीखने से विषयादि की वृद्धि होगी, मोह बढ़ेगा और अपने तथा पर के परिणामों में संक्लेश होगा, ऐसी राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा, स्त्रीकथा इत्यादि कथायें कहनी या सुननी नहीं चाहिए।

महाहिंसा का कारण और अनेक अनर्थ उत्पन्न करनेवाले जुआ का भी त्याग करना चाहिए ह्व

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।

दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥१४६॥

अन्वयार्थ ह्व (सर्वानर्थप्रथमं) सप्त व्यसनों में पहला अथवा सर्व अनर्थों में मुख्य (शौचस्य मथनं) सन्तोष का नाश करनेवाला, (मायायाः) मायाचार का (सद्म) घर और (चौर्यासत्यास्पदम्) चोरी तथा असत्य का स्थान (द्यूतम्) ऐसे जुआ का (दूरात्) दूर से ही (परिहरणीयम्) त्याग करना चाहिए।

टीका ह्व 'सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य, सद्म मायायाः चौर्यासत्या-स्पदं द्यूतम् दूरात् परिहरणीयम्।' ह्व

सभी अनर्थों को उत्पन्न करनेवाला, लोभ का त्याग शौच, उसका नाश करनेवाला और कपट का घर - ऐसे जुआ को दूर से ही छोड़ना चाहिए।

भावार्थ ह्व वास्तव में जुआ खेलना बहुत ही निन्द्य काम है और व्यसनों में सब से अधिक निकृष्ट है। जुआरी मनुष्य प्रायः सभी पापों का आचरण करता है। अतः जुए का त्याग अवश्य करना चाहिए। अनर्थदण्डत्यागनेवाले को जुए का भी त्याग करना चाहिए।

अनर्थदण्डत्यागव्रत का विशेष कहते हैं ह

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः ।

तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७॥

अन्वयार्थ ह (यः) जो मनुष्य (एवंविधं) इसप्रकार के (अपरमपि) दूसरे भी (अनर्थदण्डं) अनर्थदण्ड को (ज्ञात्वा) जानकर (मुञ्चति) त्याग करता है, (तस्य) उसके (अनवद्यं) निर्दोष (अहिंसाव्रतं) अहिंसाव्रत (अनिशं) निरन्तर (विजयं) विजय को (लभते) प्राप्त करता है ।

टीका ह 'यः एवं विधम् अपरम् अपि अनर्थदण्डं ज्ञात्वा मुञ्चति तस्य अनवद्यम् अहिंसाव्रतम् अनिशं विजयं लभते ।' ह

जो मनुष्य इसप्रकार दूसरे भी बिना प्रयोजन पापबन्ध करनेवाले अनर्थदण्ड को जानकर छोड़ देता है, उसका पाप रहित अहिंसाव्रत हमेशा विजय को प्राप्त करता है । अर्थात् सदैव पुण्यबन्ध करके पाप का त्याग करता हुआ, कर्मों की निर्जरा करता है ।

भावार्थ ह संसार में ऐसे छोटे-छोटे अनेक कार्य हैं, जिनको करने से व्यर्थ ही पाप का बन्ध हुआ करता है, अतः सभी मनुष्यों को जिससे अपना कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसे व्यर्थ अनर्थदण्ड का त्याग अवश्य करना चाहिए, यही कर्तव्य है ।

इसप्रकार तीन गुणव्रतों का वर्णन समाप्त हुआ ।



चार शिक्षाव्रतों का स्वरूप

पहला सामायिक शिक्षाव्रत ह

रागद्वेषत्यागाग्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य ।

तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥

अन्वयार्थ ह (रागद्वेषत्यागात्) राग-द्वेष के त्याग से (निखिलद्रव्येषु) सभी इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में (साम्यं) साम्यभाव को (अवलम्ब्य) अंगीकार करके (तत्त्वोपलब्धिमूलं) आत्मतत्त्व की प्राप्ति का मूलकारण ऐसा (सामायिकं) सामायिक (बहुशः) बहुत बार (कार्यम्) करना चाहिए ।

टीका ह 'निखिलद्रव्येषु रागद्वेषत्यागात् साम्यम् अवलम्ब्य तत्त्वोपलब्धिमूलं सामायिकं बहुशः कार्यम् ।' ह

समस्त इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग द्वेष भावों के त्यागपूर्वक समताभाव का अवलम्बन करके आत्मा के (शुद्ध) स्वरूप की प्राप्ति करने में मूलकारण सामायिक है, वह बार-बार करना चाहिए (अर्थात् प्रतिदिन तीन बार करना चाहिए) । यही सामायिक शिक्षाव्रत है ।

भावार्थ ह 'सम्' अर्थात् एकरूप और 'अयम्' अर्थात् आत्मा के स्वरूप में गमन, वह 'समय' हुआ । ऐसा 'समय' जिसका प्रयोजन है, उसे सामायिक कहते हैं ।

यह सामायिक समताभाव के बिना नहीं हो सकती । अतः सुखदायक और दुःखदायक पदार्थों में समान बुद्धि रखते हुए स्वरूप में मग्न होना ही परमकार्य है । यदि यह न बने तो शुभोपयोगरूप भक्ति व तत्त्वविचार आदिरूप प्रवर्तना चाहिए । श्रावक को ऐसी सामायिक तीनों काल, पाँचों पापों का त्याग करके अवश्य करना चाहिए; इसे ही सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं ।

सामायिक, कब और किस प्रकार से करना चाहिए; यह बताते हैं ह
रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम् ।

इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥१४९॥

अन्वयार्थ ह (तत्) वह सामायिक (रजनीदिनयोः) रात्रि और दिन के (अन्ते) अन्त में (अविचलितम्) एकाग्रतापूर्वक (अवश्यं) अवश्य (भावनीयम्) करना चाहिए (पुनः) और यदि (इतरत्र समये) अन्य समय में भी (कृतं) करने में आये, तो (तत्कृतं) वह सामायिक कार्य (दोषाय) दोष के लिए (न) नहीं है; अपितु (गुणाय) गुण के लिए ही होती है ।

टीका ह 'तत् सामायिकं रजनीदिनयोः अन्ते अवश्यम् अविचलितं भावनीयम् । पुनः इतरत्र समये कृतम् न दोषाय किन्तु तत् गुणाय कृतम् अस्ति ।' वह सामायिक* प्रत्येक श्रावक को रात-दिन के अन्त में अर्थात् प्रभात और सन्ध्याकाल अवश्य ही नियमपूर्वक करना चाहिए । इसके अतिरिक्त यदि शेष समय में भी सामायिक की जाये तो वह गुण के निमित्त ही है, दोष के निमित्त नहीं है ।

भावार्थ ह गृहस्थ श्रावक गृहस्थी के अनेक कार्यों में संलग्न रहता है । अतः उसके लिए आलम्बनरूप प्रभात और सन्ध्या दोनों समय आचार्यों ने नियमित किए हैं ।

यों तो सामायिक जब भी इच्छा हो की जा सकती है, उससे आत्मा का कल्याण ही है; नुकसान कदापि नहीं है ।

इसलिए प्रत्येक श्रावक को दोनों समय अथवा तीन समय उत्कृष्ट छह घड़ी, मध्यम चार घड़ी, जघन्य दो घड़ी तक पाँचों पाप तथा आरम्भ -

* सामायिक के लिए १. योग्य क्षेत्र, २. योग्य काल, ३. योग्य आसन, ४. विनय, ५. मनशुद्धि, ६. वचनशुद्धि, ७. भावशुद्धि, ८. कायशुद्धि - इन आठ बातों की अनुकूलता होना आवश्यक है । उसमें भेदज्ञान पूर्वक स्वसन्मुखता के बल से जितनी परिणामों की शुद्धता हो उतनी निश्चय सामायिक है, वहाँ वर्तते हुए शुभभाग को व्यवहार सामायिक कहते हैं । निश्चय सम्यग्ज्ञानपूर्वक जिसने कषाय की दो चौकड़ियों का अभाव किया है । उस जीव को सच्च अणुव्रत और सामायिक व्रत होता है । जिसके निश्चय सम्यग्दर्शन न हुआ हो, उसके व्रत को भगवान् सर्वज्ञदेव बालव्रत अर्थात् अज्ञानमयव्रत कहते हैं ।

परिग्रह त्याग करके एकान्त स्थान में मन शुद्ध करके पहले पूर्व दिशा में नमस्कार करना अर्थात् अंगों को भूमि से लगाकर नमना, फिर नौ बार नमस्कार मंत्र का जाप करना, पश्चात् तीन आवर्तन अर्थात् हाथ जोड़कर प्रदक्षिणा करना और एक शिरोनति अर्थात् हाथ जोड़कर मस्तक नमाना ।

इसप्रकार चारों दिशाओं में करके खड्गासन अथवा पद्मासन धारण करके सामायिक करनी चाहिए ।

जब सामायिक पूर्ण हो जाये, तब अन्त में भी प्रारम्भ की तरह नौ बार नमस्कार मन्त्र का जाप, तीन-तीन आवर्तन, एक-एक शिरोनति करनी चाहिए; यही सामायिक करने की स्थूल विधि है ।

सामायिक करते समय सामायिक काल में श्रावक भी मुनि के समान ही होता है ह

सामायिकाश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् ।

भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ॥१५०॥

अन्वयार्थ ह (एषाम्) यह (सामायिकाश्रितानां) सामायिक दशा को प्राप्त श्रावकों को (चरित्रमोहस्य) चारित्रमोह का (उदये अपि) उदय होने पर भी (समस्तसावद्ययोगपरिहारात्) समस्त पाप के योग का त्याग होने से (महाव्रतं) महाव्रत (भवति) होता है ।

टीका ह 'सामायिकाश्रितानाम् एषां श्रावकानां समस्तसावद्य-योगपरिहारात् चरित्रमोहस्य उदये अपि महाव्रतं भवति ।' ह

सामायिक करनेवाले श्रावक के उस समय समस्त पाँचों पापों का त्याग होने से प्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीयकर्म का उदय होने पर भी महाव्रत ही है ।

भावार्थ ह श्रावक जिससमय सामायिक कर रहा हो, उस समय वास्तव में उसकी अवस्था मुनि समान ही है । भेद केवल इतना ही है कि मुनि दिग्म्बर हैं और श्रावक वस्त्र सहित है । मुनि महाराज ने प्रत्याख्यानावरण कषायों का त्याग कर दिया है और श्रावक ने अभी तक प्रत्याख्यानावरण कषाय का त्याग नहीं किया है ।

अब दूसरे शिक्षाव्रत प्रोषधोपवास का स्वरूप कहते हैं ह
**सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् ।
 पक्षाद्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥१५१॥**
अन्वयार्थ ह (प्रतिदिनं) प्रतिदिन (आरोपितं) अंगीकार किए
 (सामायिक-संस्कारं) सामायिकरूप संस्कार को (स्थिरीकर्तुम्) स्थिर
 करने के लिए (द्वयोः) दोनों (पक्षाद्धयोः) पक्ष के अर्द्धभाग में अर्थात्
 अष्टमी और चतुर्दशी के दिन (उपवासः) उपवास (अवश्यमपि) अवश्य
 ही (कर्त्तव्यः) करना चाहिए ।

टीका ह 'प्रतिदिनम् आरोपितं सामायिकसंस्कारं स्थिरीकर्तुं द्वयोरपि
 पक्षाद्धयोः अवश्यम् उपवासः कर्त्तव्यः ।' ह

प्रतिदिन अंगीकार किए हुए सामायिक व्रत की दृढ़ता करने के लिए
 दोनों पखवाड़ों के (शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के) अर्द्धभाग में चतुर्दशी
 और अष्टमी के दिन उपवास अवश्य करना चाहिए ।

भावार्थ ह प्रोषध का अर्थ है पर्व और उपवास का अर्थ है 'निकट
 वास करना' । पर्व में पाप से छूटकर धर्म में वास करने को प्रोषधोपवास
 कहते हैं । यह प्रोषधोपवास प्रत्येक महीने में चार बार किया जाता
 है अर्थात् प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमी के दिन किया जाता है ।

इससे सामायिक करने की भावना दृढ़ रहती है अर्थात् विषय-
 कषायों से चित्त सदा विरक्त ही रहता है । इसलिए प्रत्येक गृहस्थ को
 सामायिक अवश्य ही करनी चाहिए ।

प्रोषधोपवास की विधि ह

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासस्याद्धे ।

उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥

अन्वयार्थ ह (मुक्तसमस्तारम्भः) समस्त आरम्भ से मुक्त होकर
 (देहादौ) शरीरादि में (ममत्वं) ममत्वबुद्धि का (अपहाय) त्याग करके
 (प्रोषधदिनपूर्ववासस्याद्धे) पर्व के पहले दिन के मध्याह्न काल में
 (उपवासं) उपवास को (गृह्णीयात्) अंगीकार करना चाहिए ।

टीका ह 'प्रोषधदिनपूर्ववासस्याद्धे मुक्तसमस्तारम्भः देहादौ ममत्वम्
 अपहाय उपवासं गृह्णीयात् ।' ह

जिस दिन उपवास करना है, उसके एक दिन पहले अर्थात् धारणा
 के दिन समस्त आरम्भ छोड़कर चार प्रकार के आहार का त्याग करके
 शरीरादि में ममत्वभाव छोड़कर उपवास ग्रहण करें ।

भावार्थ ह जैसे अष्टमी के दिन उपवास करना है तो सप्तमी के
 दोपहर के बारह बजे से चारों प्रकार के आहार का त्याग करके समस्त
 आरम्भ का त्याग करते हुए शरीरादि से मोह छोड़कर उपवास धारण
 करना चाहिए ।

उपवास के दिन का कर्त्तव्य ह

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।

सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥

अन्वयार्थ ह फिर (विविक्तवसतिं) निर्जन वसतिका^१ ह निवास-
 स्थान में (श्रित्वा) जाकर (समस्तसावद्ययोगं) सम्पूर्ण सावद्ययोग^२ का
 (अपनीय) त्याग करके (सर्वेन्द्रियार्थविरतः) सर्व इन्द्रियों से विरक्त
 होकर (कायमनोवचनगुप्तिभिः) मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति सहित
 (तिष्ठेत्) स्थित होवे ।

टीका ह 'विविक्तवसतिं श्रित्वा समस्त सावद्ययोगम् अपनीय
 सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिः तिष्ठेत् ।' ह

जिसने सप्तमी के दिन उपवास धारण किया है, वह श्रावक उसीसमय
 एकान्त स्थान में जाकर (सोलह पहर अर्थात् ४८ घण्टे के लिए) हिंसादि
 पाँच पापों का संकल्प पूर्वक त्याग करके पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त
 होकर मन, वचन और काय को वश रखे अर्थात् तीन गुप्ति का पालन करे ।

१. वसतिका प्राचीन समय में नगर-ग्रामों के बाहर धर्मात्माजन मुनियों के ठहरने के लिए,
 आराम के लिए अथवा सामायिक आदि करने के लिए झोंपड़ी आदि बनवा देते थे, उसे
 वसतिका कहते थे । अनेक नगरों में वसतिका आजकल भी देखने में आती है ।

२. सम्पूर्ण सावद्ययोग का त्याग = जिस समय सर्व सावद्ययोग का त्याग करे, उससमय
 "सर्व सावद्ययोग का त्यागी होता हूँ" ह ऐसी प्रतिज्ञा करे ।

भावार्थ ह उपवास का सारा समय धर्मध्यानादि में व्यतीत करना चाहिए। एकान्त स्थान के बिना धर्मध्यान नहीं हो सकता। इसलिए एकान्त स्थान धर्मशाला, चैत्यालय वगैरह में वास करे और मन में विचार करे तो केवल धार्मिक बातों का ही विचार करे। वचन से बोले तो धार्मिक बातों का ही विवेचन करे। काय की चेष्टा करे तो अपनी मर्यादा प्रमाण क्षेत्र में धर्मरूप ही करे। निरर्थक चलना-फिरना न करे। इस भाँति तीनों गुप्तियों का पालन करे।

पश्चात् क्या करना चाहिए, वह बताते हैं ह

धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्यविहितसान्ध्यविधिम्।

शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ॥१५४॥

अन्वयार्थ ह (विहितसान्ध्यविधिम्) प्रातःकाल तथा सन्ध्याकाल की सामायिकादि क्रिया करके (धर्मध्यानासक्तः) धर्मध्यान में लीन होकर (अतिवाह्य वासरम्) दिवस व्यतीत करे और (स्वाध्याय जितनिद्रः) पठन-पाठन से निद्रा को जीतकर (शुचिसंस्तरे) पवित्र बिस्तर (चटाई आदि) पर (त्रियामां) रात (गमयेत्) पूर्ण करे।

टीका ह 'धर्मध्यानासक्तो वासरम् अतिवाह्य विहितसान्ध्य-विधिम् स्वाध्यायजितनिद्रः शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्।' ह

उपवास अंगीकार करके श्रावक धर्मध्यान में लीन होकर दिवस पूर्ण करके तथा सन्ध्यासमय सामायिक आदि करके यथाशक्ति स्वाध्याय करते हुए रात्रि व्यतीत करे।

भावार्थ ह यह उपवास धारण का दिन है। अतः दोपहर के बारह बजे से सन्ध्याकाल तक धर्मध्यान करना। फिर सामायिक करके स्वाध्यायादि द्वारा निद्राजय करना और ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना। तथा स्वाध्यायादि धर्मध्यान पूर्वक रात्रि व्यतीत करे। इसके बाद प्रातःकाल चार बजे बिस्तर को छोड़कर जागृत हो जाना चाहिए।

उपवास के बाद क्या करना? यह कहते हैं ह

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।

निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥१५५॥

अन्वयार्थ ह (ततः) इसके बाद (प्रातः) सुबह ही (प्रोत्थाय) उठकर (तात्कालिकं) प्रातःकाल की (क्रियाकल्पम्) सामायिकादि क्रियायें (कृत्वा) करके (प्रासुकैः) प्रासुक अर्थात् जीव रहित (द्रव्यैः) द्रव्यों से (यथोक्तं) आर्ष ग्रन्थों में कहे अनुसार (जिनपूजां) जिनेन्द्रदेव की पूजा (निर्वर्तयेत्) करे।

टीका ह 'ततः प्रातः प्रोत्थाय तात्कालिकं क्रियाकल्पं कृत्वा यथोक्तं प्रासुकैः द्रव्यैः जिनपूजां निर्वर्तयेत्।' ह

शयन के बाद चार बजे ब्रह्ममुहूर्त में जाग्रत होकर सामायिक और भजन व स्तुति आदि करके शौच-स्नानादि से निपटकर प्रासुक आठ द्रव्यों से भगवान की पूजा करना तथा स्वाध्याय आदि करना।

भावार्थ ह आचार्यों का अभिप्राय यहाँ प्रासुक द्रव्यों से पूजन करने का है। अतः जल को लौंग द्वारा प्रासुक^१ बना लेना चाहिए या जल को गरम कर लेना चाहिए और उसी जल से अष्ट द्रव्यों को धोना चाहिए।

भगवान की पूजा में अनेक प्रकार के सचित्त पदार्थ जैसे नारंगी, मौसमी, गन्ना इत्यादि कदापि नहीं चढ़ाना चाहिए।

तीसरे आधे दिन का कार्य कहते हैं ह

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।

अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥

अन्वयार्थ ह (ततः) उसके बाद (उक्तेन) पूर्वोक्त (विधिना) विधि से (दिवसं) उपवास का दिन (च) और (द्वितीयरात्रिं) दूसरी रात को (नीत्वा) व्यतीत करके (च) फिर (तृतीयदिवसस्य) तीसरे दिन का (अर्धं) आधा भाग भी (प्रयत्नात्) अतिशय यत्नाचपूर्वक (अतिवाहयेत्) व्यतीत करे।

१. प्रासुक= जो द्रव्य सूखा हो, पका हुआ हो, अग्नि पर तपाया हुआ हो, लवण तथा अम्लरस मिश्रित हो, कोल्हू, छुरी, चक्री आदि यन्त्रों से छिन्न-भिन्न किया हुआ हो, तथा संशोधित हो, वह सभी प्रासुक द्रव्य है। वह गाथा स्वामी कार्तिकेय ग्रन्थ की संस्कृत टीका में तथा गोमट्टसार की केशववर्णी कृत संस्कृत टीका में सत्यवचन के भेदों में कही गई है।

टीका ह 'ततः उक्तेन विधिना दिवसं नीत्वा च द्वितीयरात्रिं नीत्वा च तृतीय दिवसस्य अर्द्धं प्रयत्नात् अतिवाहयेत् ।' ह

फिर जिसप्रकार धर्मध्यानपूर्वक पहले आधा दिन व्यतीत किया था, उसीप्रकार दूसरा दिन भी व्यतीत करके तथा जैसे स्वाध्यायपूर्वक पहली रात व्यतीत की थी, वैसे ही दूसरी रात भी व्यतीत करके अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक तीसरा आधा दिन भी व्यतीत करना चाहिए ।

भावार्थ ह जिसप्रकार धारणा का दिन व्यतीत किया था, उसीप्रकार पारणा का दिन भी व्यतीत करे । धारणा से लेकर पारणा तक का सोलह पहर का समय (४८ घण्टे) श्रावक को भले प्रकार धर्मध्यान - पूर्वक ही व्यतीत करना चाहिए, तभी उसका उपवास करना सार्थक है; कारण कि विषय-कषायों का त्याग करने के लिए ही उपवासादि किये जाते हैं ।

उपवास करने का फल बताते हैं ह

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः ।

तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१५७॥

अन्वयार्थ ह (यः) जो जीव (इति) इसप्रकार (परिमुक्तसकल-सावद्यः) सम्पूर्ण पापक्रियाओं से रहित होकर (षोडश यामान्) सोलह पहर (गमयति) व्यतीत करता है, (तस्य) उसे (तदानीं) उस समय (नियतं) निश्चयपूर्वक (पूर्ण) सम्पूर्ण (अहिंसाव्रतं) अहिंसाव्रत (भवति) होता है ।

टीका ह 'इति (पूर्वोक्तरीत्या) यः (श्रावकः) परिमुक्तसकलसावद्यः षोडश यामान् गमयति, तस्य (श्रावकस्य) तदानीं नियतं पूर्णम् अहिंसाव्रतं भवति ।' ह

जिसप्रकार से उपवास की विधि बताई है, उसीप्रकार से जो श्रावक सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग करके सोलह पहर व्यतीत करता है, उस श्रावक को उन सोलह पहर में नियम से पूर्ण अहिंसाव्रत का पालन होता है ।

भावार्थ ह उपवास तीन प्रकार का है ह उत्कृष्ट उपवास १६ पहर का है, मध्यम उपवास १२ पहर का है तथा जघन्य उपवास ८ पहर का है ।

यथा (१) सप्तमी के दिन दोपहर को १२ बजे उपवास धारण किया और नवमी के दिन दोपहर को १२ बजे पारणा किया - इसतरह १६ पहर हुए, यह उत्कृष्ट उपवास है ।

(२) सप्तमी के दिन सन्ध्या समय ५ बजे उपवास धारण किया और नवमी के दिन प्रातः ७ बजे पारणा किया, यह १२ पहर का मध्यम उपवास है ।

(३) जघन्य उपवास आठ पहर का है । अष्टमी के दिन प्रातः ८ बजे उपवास धारण किया और नवमी के दिन प्रातः ८ बजे पारणा किया । वह ८ पहर का जघन्य उपवास हुआ ।

उपवास में अहिंसा की विशेषतः पुष्टि होती है ह

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत् किलामीषाम् ।

भोगोपभोगविरहाद् भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥१५८॥

अन्वयार्थ ह (किल) निश्चय से (अमीषाम्) इस देशव्रती श्रावक को (भोगोपभोगहेतोः) भोगोपभोग के हेतु से (स्थावरहिंसा) स्थावर अर्थात् एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा (भवेत्) होती है; परन्तु (भोगोपभोग-विरहात्) भोगोपभोग के त्याग से (हिंसायाः) हिंसा (लेशः अपि) लेशमात्र भी (न भवति) नहीं होती ।

टीका ह 'किल अमीषाम् (श्रावकानाम्) भोगोपभोगहेतोः स्थावर-हिंसा भवेत् (अतः उपवासे) भोगोपभोगविरहात् हिंसायाः लेशोऽपि न भवति ।' ह

निश्चय से इन देशव्रती श्रावकों को भोगोपभोग के निमित्त से स्थावरहिंसा होती है; क्योंकि वे त्रसहिंसा के तो पूर्णरूप से त्यागी ही हैं ।

जब गृहस्थ श्रावक, उपवास में समस्त आरम्भ, परिग्रह और पाँचों पापों का सम्पूर्ण त्याग कर देता है, तब उसे उपवास में स्थावरहिंसा भी नहीं होती । कारण कि भोगोपभोग का त्याग हो जाने से हिंसा का अंशमात्र भी नहीं रहा, इसलिए अहिंसा महाव्रत का पालन हुआ ।

इसीप्रकार उपवास में अहिंसा महाव्रत की तरह अन्य चार महाव्रत का भी पालन हो जाता है ह यह बात बताते हैं ह

वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहितः स्तेयम् ।

नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेऽप्यमूर्छस्य ॥१५९॥

अन्वयार्थ ह और उपवासधारी पुरुष के (वाग्गुप्तेः) वचनगुप्ति होने से (अनृतं) असत्य वचन (न) नहीं है, (समस्तादानविरहितः) सम्पूर्ण अदत्तादान के त्याग से (स्तेयम्) चोरी (न) नहीं है, (मैथुनमुचः) मैथुन के त्याग से (अब्रह्म) अब्रह्मचर्य (न) नहीं है और (अंगे) शरीर में (अमूर्छस्य) ममत्व न होने से (सङ्गः) परिग्रह (अपि) भी (न) नहीं है ।

टीका ह 'वाग्गुप्तेः अनृतं नास्ति, समस्तादानविरहितः स्तेयं नास्ति, मैथुनमुचः अब्रह्म नास्ति, अङ्गे अपि अमूर्छस्य सङ्गः नास्ति ।' ह

उपवास धारी पुरुष के वचनगुप्ति का पालन होने से सत्य महाव्रत का पालन होता है, बिना दी हुई समस्त वस्तुओं के ग्रहण करने का त्याग होने से अचौर्य महाव्रत का पालन होता है ।

सम्पूर्ण मैथुन कर्म का त्याग होने से ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन होता है तथा शरीर में ही ममत्वपरिणाम न होने से परिग्रहत्याग महाव्रत का पालन भी होता है । इसप्रकार उपवास से चारों महाव्रतों का पालन हो जाता है ।

अब यहाँ कोई शंका करे कि अब श्रावक को भी महाव्रत है और मुनियों को भी महाव्रत है तो दोनों में क्या अन्तर है ? उसका उत्तर ह

इत्थमशेषितहिंसाः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।

उदयति चारित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥१६०॥

अन्वयार्थ ह (इत्थम्) इसप्रकार (अशेषितहिंसाः) सम्पूर्ण हिंसाओं से रहित (सः) वह प्रोषधोपवास करनेवाला पुरुष (उपचारात्) उपचार से अथवा व्यवहारनय से (महाव्रतित्वं) महाव्रतपना (प्रयाति) पाता है, (तु) परन्तु (चारित्रमोहे) चारित्रमोह के (उदयति) उदयरूप होने के कारण (संयमस्थानम्) संयमस्थान अर्थात् प्रमत्तादि गुणस्थान (न लभते) प्राप्त नहीं करता ।

टीका ह 'इत्थम् अशेषितहिंसाः सः (श्रावकः) उपचारात् महाव्रतित्वं प्रयाति, तु चारित्रमोहे उदयति (सति) संयमस्थानं न लभते ।' ह

इसप्रकार जिसके हिंसा अवशेष नहीं है, ऐसा श्रावक उपचार से महाव्रती कहलाता है ।

वास्तव में वह महाव्रती नहीं है; क्योंकि प्रत्याख्यानावरण चारित्र मोहनीय कर्म के उदय में युक्त होने से वह श्रावक महाव्रत संयम को प्राप्त नहीं हो सकता ।

भावार्थ ह वास्तव में जिसके प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ का अभाव हो गया है, वह संयमी महाव्रती कहलाता है; परन्तु जिसके उन कषायों का अभाव तो नहीं हुआ है; किन्तु उन द्रव्यरूप पाँचों पापों का अभाव हो गया हो तो उसको उपचार से महाव्रत है ।

वास्तव में महाव्रत नहीं है; क्योंकि पूर्ण संयम प्रमत्तगुणस्थान में ही प्रारम्भ होता है । वह प्रमत्त गुणस्थान प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव बिना नहीं होता है । इस भाँति प्रोषधोपवास का वर्णन किया ।

यह प्रोषधोपवास सभी श्रावकों को करना चाहिए; क्योंकि इसमें पाँचों महापापों का त्याग हो जाता है तथा पाँचों इन्द्रियों के विषय तथा कषायों का दमन भी हो जाता है ।

जो गृहस्थ केवल मान-बढ़ाई के लिए ही उपवास अंगीकार करता है और अपनी कषायों का त्याग नहीं करता, उसका उपवास करना न करना समान ही है ।

तीसरे भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत का स्वरूप कहते हैं ह

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा ।

अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥१६१॥

अन्वयार्थ ह (विरताविरतस्य) देशव्रती श्रावक को (भोगोपभोग-मूला) भोग और उपभोग के निमित्त से होनेवाली (हिंसा) हिंसा होती है

(अन्यतः न) अन्य प्रकार से नहीं होती, इसलिए (तौ) वे दोनों अर्थात् भोग और उपभोग (अपि) भी (वस्तुतत्त्वं) वस्तुस्वरूप (अपि) और (स्वशक्तिं) अपनी शक्ति को (अधिगम्य) जानकर अर्थात् अपनी शक्ति अनुसार (त्याज्यौ) छोड़ने योग्य है।

टीका ह्य 'विरताविरतस्य भोगोपभोगमूला हिंसा भवति अन्यतः न इति हेतोः भावकेन वस्तुतत्त्वम् अधिगम्य तथा स्वशक्तिम् अपि अधिगम्य तौ अपि भोगोपभोगौ त्याज्यौ।' ह्य

व्रत व अव्रत के धारी देशव्रती श्रावक को भोग और उपभोग सम्बन्धी हिंसा होती है; किन्तु अन्य प्रकार की कोई दूसरी हिंसा नहीं होती।

इसलिए वस्तुस्वरूप जानकर अर्थात् इस वस्तु के भोगने में इतना दोष है। यह वस्तु भक्ष्य है, यह वस्तु अभक्ष्य है, ऐसा विचार करके तथा अपनी शक्ति अर्थात् शरीर और परिणामों की शक्ति को जानकर जितना बन सके, उतना भोगोपभोग का परिमाण करके शेष का त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ ह्य जो एक बार भोगने में आवे, उसे भोग कहते हैं। जैसे दाल, भात, रोटी, पुड़ी, दही, पेड़ा, जलेबी, पानी, पुष्पमाला इत्यादि सभी भोग पदार्थ हैं।

जो बार-बार भोगने में आवे, उसे उपभोग कहते हैं। जैसे, कपड़ा, बर्तन, घर, खेत, गाय, बैल, जेवर, सवारी इत्यादि सभी उपभोग पदार्थ हैं। श्रावक को इन पदार्थों के सम्बन्ध से हिंसा होती है। इसलिए उसे इन हिंसा के कारणों का भी शीघ्र ही त्याग करना चाहिए।

अनंतकायिक वनस्पति का त्याग अति आवश्यक है ह्य

एकमपि प्रजिघांसु निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।

करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ॥१६२॥

अन्वयार्थ ह्य (ततः) कारण कि (एकम्) एक साधारण शरीर को ह्य कन्द मूलादिक को (अपि) भी (प्रजिघांसु) घात करने की इच्छा

करनेवाला पुरुष (अनन्तानि) अनन्त जीवों को (निहन्ति) मारता है, (अतः) इसलिए (अशेषाणां) सम्पूर्ण (अनन्तकायानां) अनन्तकाय का (परिहरणं) परित्याग (अवश्यं) अवश्य (करणीयम्) करना चाहिए।

टीका ह्य 'एकम् अपि प्रजिघांसु अतः अनन्तानि निहन्ति ततः अशेषानाम् अनन्तकायाणाम् अवश्यं परिहरणं करणीयम्।' ह्य

एक कन्द मूल सम्बन्धी जीव को खाने की इच्छा करनेवाला गृहस्थ, उस जीव के साथ-साथ उसके आश्रय से रहनेवाले साधारण अनन्त जीव हैं, उन सभी का घात करता है। इसलिए साधारण अनन्तकायवाली जितनी वनस्पतियाँ हैं, उन सभी का* अवश्य त्याग करना चाहिए।

भावार्थ ह्य वनस्पति साधारण और प्रत्येक - इसतरह दो प्रकार की होती है। इसमें से साधारण वनस्पति का त्याग तो गृहस्थ श्रावक को सर्वथा ही कर देना चाहिए।

अब यहाँ प्रत्येक और साधारण के सभी भेद-प्रभेद स्वरूप से कथन किये जा रहे हैं। पाँच स्थावरों में से पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय - इन चार में तो निगोद के जीव रहते नहीं, केवल एक वनस्पतिकाय में ही रहते हैं।

उसके प्रत्येक और साधारण इस प्रकार दो भेद हैं। जिस शरीर का एक ही स्वामी हो, उसे प्रत्येक कहते हैं और जिस शरीर के अनन्त स्वामी हों, उसे साधारण कहते हैं।

प्रत्येक के भी दो भेद हैं ह्य सप्रतिष्ठित-प्रत्येक और अप्रतिष्ठित-प्रत्येक। जो निगोद सहित हो अर्थात् जिस शरीर का मूल स्वामी एक हो और उस शरीर के आश्रय अनन्त जीव रहते हों, उसे सप्रतिष्ठित-प्रत्येक कहते हैं।

* उन सभी का त्याग अर्थात् उन सम्बन्धी राग का त्याग, वह भी मिथ्या अभिप्राय के त्यागरूप और स्वाश्रय के ग्रहणरूप सम्यग्दर्शन के बिना यथार्थरीति से व्यवहार त्याग नहीं कहला सकता। धर्मीजीव को त्रस व स्थावर जीव के भेद जानना चाहिए। दो इन्द्रिय आदि से पंचेन्द्रिय तक जीवों को त्रस तथा पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, और वनस्पतिकायिक जीवों को स्थावर कहते हैं। (स्थावर जीव को एकेन्द्रियपना है।)

जिस शरीर का मूल स्वामी एक हो और उसके आश्रय अनन्त जीव न रहते हों अर्थात् निगोद सहित न हो, उसे अप्रतिष्ठित-प्रत्येक कहते हैं।

साधारण वनस्पति का लक्षण: ह्व जिसको तोड़ने पर समान भंग हों, जिसके पत्तों में जबतक तन्तु, रेखा और नसाजाल न निकले हों, जिसकी मूल, कन्द, कन्दमूल, छाल, पत्ते, छोटी डाली, फूल-फल और बीज में उसके तोड़ते समय समान भंग हो जाये, तबतक वह सभी साधारण वनस्पति है और जब उनमें समान भंग न हो, तब वह वनस्पति प्रत्येक हो जाती है।

यद्यपि साधारण वनस्पति तथा सप्रतिष्ठित-प्रत्येक वनस्पति इन दोनों में अनन्त जीव हैं, तो भी साधारण वनस्पति के शरीर में जितने जीव हैं, वे सभी उस शरीर के स्वामी हैं और उस वनस्पति के तोड़ने - काटने पर उन सभी जीवों का घात होता है।

सप्रतिष्ठित-प्रत्येक वनस्पति के एक शरीर में शरीर का स्वामी तो एक ही है; किन्तु उस शरीर के आश्रय अनन्त जीव हैं, वे सभी स्वामी नहीं हैं और उस शरीर के स्वामी के मरने-जीने के साथ उन समस्त जीवों के मरने-जीने का कोई सम्बन्ध नहीं है। बस, यही दोनों में भेद है।

इसलिए गृहस्थ श्रावक को साधारण वनस्पति का सर्वथा ही त्याग करना चाहिए; और सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति का भी त्याग करना चाहिए; क्योंकि एक साधारण वनस्पति के एक शरीर में अनन्तानन्त जीव रहते हैं। अतः जब हम एक आलू खाते हैं, तब अनन्तानन्त जीवों का घात करते हैं।

अब यहाँ एक साधारण वनस्पति का विचार किया जाता है। जैसे एक आलू या अदरक इत्यादि साधारण वनस्पति का विचार करें तो उसमें लोक के जितने प्रदेश हैं, उनसे असंख्यातगुने शरीर हैं, उन सर्व शरीर के पिण्डों को 'स्कन्ध' कहते हैं, (जैसे अपना एक शरीर है) और उस एक स्कन्ध में असंख्यात लोक प्रमाण 'अण्डर' हैं, (जैसे अपने शरीर में हाथ,

पैर आदि उपांग हैं) और एक अण्डर में असंख्यात लोकप्रमाण 'पुलवी' हैं, (जैसे अपने हाथ में अंगलियाँ हैं) और एक पुलवी में असंख्यात लोकप्रमाण 'आवास' हैं (जैसे एक अंगली में तीन पोर होते हैं) और एक आवास में असंख्यात लोकप्रमाण 'निगोद शरीर' हैं (जैसे एक पोर में अनेक रेखायें हैं) और एक निगोद शरीर में सिद्ध राशि से अर्थात् अनन्त मुक्तात्माओं से अनन्तगुने जीव हैं अर्थात् सिद्धालय में जो अनन्त सिद्ध जीव विराजमान हैं, उनसे भी अनन्तगुने जीव एक निगोद शरीर में हैं (जैसे एक अंगली की रेखा में असंख्यात प्रदेश हैं)।

इसप्रकार एक आलू अथवा साधारण हरी के (आलू, अदरक इत्यादि के) टुकड़े में अनन्तानन्त जीव रहते हैं। अतः ऐसी वनस्पतियों का शीघ्र ही त्याग कर देना चाहिए।

तथा दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यच, केवली के शरीर में, आहारक शरीर में, देव-नारकियों के शरीर को छोड़कर- अर्थात् इन आठ स्थानों को छोड़कर मनुष्य शरीर के आश्रित अनन्त निगोद जीव होते हैं। जिन वस्तुओं के ऊपर फफुड़ा आ जाये अथवा शास्त्रों में जहाँ निगोद की उत्पत्ति कही है, वे सब अनन्त कहलाते हैं; उनका त्याग अवश्य करना। जीभ के थोड़े से स्वाद के कारण अनन्त जीवों का घात नहीं करना।

वनस्पति के त्याग को विशेषरूप से बताते हैं ह

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।

यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित्॥१६३॥

अन्वयार्थ ह्व (च) और (प्रभूतजीवानाम्) बहुत जीवों का (योनिस्थानं) उत्पत्तिस्थानरूप (नवनीतं) मक्खन (लौनी) (त्याज्यं) त्याग करने योग्य है (वा) अथवा (पिण्डशुद्धौ) आहार की शक्ति में (यत्किञ्चित्) जो किञ्चित् भी (विरुद्धं) विरुद्ध (अभिधीयते) कहा गया है, वह (अपि) भी त्याग करने योग्य है।

टीका ह्य 'च प्रभूतजीवानां योनिस्थानं नवनीतं त्याज्यम् वा यत्किञ्चित् विरुद्धम् अभिधीयते (तत्) अपि त्याज्यम्।' ह्य

तथा बहुत जीवों की उत्पत्ति का स्थान (दही में से निकली हुई अग्नि पर बिना तपाई हुई लौनी) जो ताजा मक्खन, वह भी त्याग करने योग्य है और आहारशुद्धि में जो कुछ भी निषिद्ध बताते हैं, वह सभी छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ ह्य आचारशास्त्र में जो पदार्थ अभक्ष्य और निषिद्ध बताते हैं, उन सबका त्याग करना चाहिए। जैसे कि चमड़े में रखा हुआ अथवा चमड़े का स्पर्श किया हुआ जल, तेल, घी इत्यादि सभी अशुद्ध हैं; अतः इनका ग्रहण नहीं करना चाहिए।

एक मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट से अधिक समय का रखा हुआ कच्चा दूध, एक दिन उपरान्त का दही, बाजार का आटा, अनजाना फल, बैंगन, सड़ा हुआ अनाज, बहुबीज वाली वस्तु नहीं खानी चाहिए।

मर्यादा उपरान्त के समय का आटा नहीं खाना चाहिए। (अचार, मुरब्बा, घुना हुआ अन्न, दही-बड़ा, अत्यन्त तुच्छफल इत्यादि जो भी वस्तुएँ शास्त्र में निषिद्ध हैं, उनका त्याग करना चाहिए।

बत्तीस अंगुल लम्बा, चौबीस अंगुल चौड़ा, मोटा स्वच्छ वस्त्र लेकर, उसे दोहरा करके पानी छानना चाहिए और वही छना हुआ जल पीने तथा अन्य काम में प्रयोग करना चाहिए।)

उस छने हुए कच्चे पानी की मर्यादा ४८ मिनट की है। छने हुए पानी में यदि लौंग, इलायची, गोल मिरच इत्यादि कूटकर डाल दी जाये और वह इतनी मात्रा में डाली जाये कि पानी का रंग और स्वाद बदल जाये तो उस जल की मर्यादा दो पहर अर्थात् छह घण्टे की है।

जिस पानी को इतना उबाला जाये कि उसमें उछाला आने लगे, उस औटाये (उबाले) हुए पानी की मर्यादा २४ घण्टे की है, उसके पश्चात् वह भी किसी काम में नहीं लेना चाहिए।

इसप्रकार पानी को उपयोग में लेना चाहिए तथा पानी का गालन भी जिस कुएँ आदि से पानी लाया गया हो, उसी कुएँ आदि में डालना चाहिए, अन्य में नहीं। (आटे की मर्यादा शीतऋतु में सात दिन, ग्रीष्म में पाँच दिन तथा बरसात में तीन दिन की है, तत्पश्चात् ग्रहण नहीं करना चाहिए)।

इसतरह श्रावक को अपनी भोग-उपभोग की सामग्री में विवेक रखकर त्याग और ग्रहण करना चाहिए।

त्याग के सम्बन्ध में और विशेष कहते हैं ह्य

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।

अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥१६४॥

अन्वयार्थ ह्य (धीमता) बुद्धिमान पुरुष (निजशक्ति) अपनी शक्ति (अपेक्ष्य) देखकर (अविरुद्धाः) अविरुद्ध (भोगाः) भोग (अपि) भी (त्याज्याः) छोड़ देवे और जो (अत्याज्येषु) उचित भोग-उपभोग का त्याग न हो सके तो उसमें (अपि) भी (एकदिवानिशोपभोग्यतया) एक दिवस या रात की उपभोग्यता से (सीमा) मर्यादा (कार्या) करनी चाहिए।

टीका ह्य 'धीमता निजशक्तिम् अपेक्ष्य अविरुद्धाः अपि भोगाः त्याज्याः तथा अत्याज्येषु अपि एकदिवानिशोपभोग्यतया सीमा कार्या।' ह्य

बुद्धिमान श्रावक अपनी शक्ति का विचार करके श्रावक के लिए खानेयोग्य पदार्थ है, उसे भी जितना बन सके, उतना छोड़ देवे और जो सर्वथा न छोड़ सके तो उसमें भी एक दिन, एक रात, एक सप्ताह, एक पक्ष आदि की मर्यादा करके क्रम-क्रम से छोड़े अर्थात् यह भोग मुझे इतने ही काल में भोगना है, अन्य काल में मेरे त्याग है ह्य ऐसी मर्यादा कर लेवे।

एक दिन में भी घड़ी, घंटा आदि काल की मर्यादा करते हुए त्याग करे ह्य

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम्।

सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्त्तव्या ॥१६५॥

अन्वयार्थ ह (पूर्वकृतायां) पहले की हुई (सीमनि) मर्यादा में (पुनः) फिर से (अपि) भी (तात्कालिकीं) उस समय की अर्थात् वर्तमान समय की (निजां) अपनी (शक्तिम्) शक्ति का (समीक्ष्य) विचार कर (प्रतिदिवसं) प्रत्येक दिन (अन्तरसीमा) मर्यादा में भी थोड़ी मर्यादा (कर्त्तव्या भवति) करना योग्य है।

टीका ह 'पुनरपि पूर्वकृतायां सीमनि तात्कालिकीं निजां शक्तिं समीक्ष्य प्रतिदिवसं अन्तरसीमा कर्त्तव्या भवति।' ह

पहले जो एक दिन, एक सप्ताह इत्यादि क्रम से त्याग किया था, उसमें भी अपनी वर्तमान शक्ति को देखकर घड़ी, घण्टा, पहर इत्यादि की थोड़ी-थोड़ी मर्यादा करके जितना त्याग बन सके, उतना त्याग करना चाहिए।

इसप्रकार अपने भोग-उपभोग की सामग्री के पदार्थ की संख्या तथा जितने काल की मर्यादा कम कर सके, उतनी अवश्य कम करना चाहिए। इसी में आत्मा का कल्याण* है।

भोगोपभोगपरिणाम शिक्षाव्रत का स्वरूप कहते हैं ह

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।

बहुतरहिंसाविरहात्तस्याहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥१६६॥

अन्वयार्थ ह (यः) जो गृहस्थ (इति) इसप्रकार (परिमितभोगैः) मर्यादारूप भोगों से (सन्तुष्टः) सन्तुष्ट होकर (बहुतरान्) बहुत से (भोगान्) भोगों को (त्यजति) छोड़ देता है, (तस्य) उसके (बहुतरहिंसाविरहात्) अधिक हिंसा के त्याग से (विशिष्टा अहिंसा) विशेष अहिंसाव्रत (स्यात्) होता है।

* **कल्याण** यहाँ भूमिकानुसार ऐसा राग आता है, उसका ज्ञान कराने के लिए उपदेशवचन है। आत्मा का कल्याण तो अन्तरङ्ग में निजकारणपरमात्मा के आश्रय से होनेवाली शुद्धि अर्थात् वीतराग भाव से है। वहाँ अशुभ से बचने के लिए जो शुभराग आता है, उसे उपचार से-व्यवहार से भला कहने की व्यवहार की रीति है।

टीका ह 'यः इति परिमितभोगैः सन्तुष्टः बहुतरान् भोगान् त्यजति तस्य बहुतरहिंसाविरहात् विशिष्टा अहिंसा स्यात्।' ह

इसप्रकार जो श्रावक भोगोपभोग के पदार्थों से सन्तुष्ट होता हुआ बहुत से भोगोपभोग के पदार्थों को छोड़ देता है, उसके बहुत हिंसा न होने से विशेष रूप से अहिंसाव्रत होता है।

भावार्थ ह जो श्रावक भोगोपभोग के पदार्थों को मर्यादापूर्वक त्याग करता ही रहता है, उसके उतने ही अंशों में सन्तोष प्रकट होकर लोभादि कषाय के त्यागरूप सम्यक् अहिंसा प्रकट होती है।

उस भोग-उपभोग के निमित्त के अवलम्बन करने से हिंसारूप भाव होते थे, उनका त्याग होने से भावहिंसा नहीं हुई और पर जीवों की हिंसा न होने से द्रव्यहिंसा नहीं हुई।

तथा उतने ही अंशों में लोभ कषाय का त्याग हो जाने से भावहिंसा भी नहीं हुई। इसलिए (अकषाय-ज्ञातास्वरूप में सावधान ऐसे) त्यागी मनुष्य को अवश्य ही विशेष अहिंसा होती है। इस प्रकार भोगोपभोगपरिमाण नामक तीसरे शिक्षाव्रत का वर्णन किया।

चौथे वैयावृत्य अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत का स्वरूप कहते हैं ह

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।

स्वपरानुग्रहेतोः कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥१६७॥

अन्वयार्थ ह (दातृगुणवता) दाता के गुणों से युक्त गृहस्थ के द्वारा (जातरूपाय अतिथये)* दिगम्बर मुनि को (स्वपरानुग्रहेतोः) अपने और पर के अनुग्रह के लिए (द्रव्यविशेषस्य) विशेष द्रव्य का अर्थात् देने योग्य वस्तु का (भागः) भाग (विधिना) विधिपूर्वक (अवश्यम्) अवश्य ही (कर्त्तव्यः) करना चाहिए।

टीका ह 'विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय अतिथये स्वपरानुग्रहेतोः अवश्यं भागः कर्त्तव्यः।' ह

* **जातरूपाय**=जन्मप्रमाण (निर्दोष) जैसे रूप में था, वैसा अर्थात् नग्न दिगम्बर अथवा उत्तम गुणों सहित अतिथि। **अतिथि**= जिसके आगमन की तिथि का नियम न हो।

नवधा भक्तिपूर्वक तथा दातार के सप्त गुणों से संयुक्त श्रावक को दान देने योग्य वस्तुओं का जो गुणवान पात्र है, उसको अपने तथा पर के उपकार के लिए अवश्य दान करना चाहिए।

भावार्थ ह्य श्रावक जो न्यायपूर्वक धन उपार्जन करते हैं, उन्हें अपने धन में से थोड़ा-बहुत धन चार प्रकार के संघ के दान निमित्त अवश्य निकालना चाहिए और उसे विधिपूर्वक दान देना चाहिए।

ऐसा करने से उसके धन का सदुपयोग होगा, कर्मों की निर्जरा होगी और चतुर्विध संघ अपने तप की वृद्धि करेंगे।

आये हुए योग्य अभ्यागत को प्रतिदिन भोजनादिक का दान करके पश्चात् स्वयं भोजन करे - ऐसा श्रावकों का नित्यकर्म है; उसे अतिथिसंविभाग कहते हैं। उसमें जैसी विधि हो, जैसा दाता हो, जैसी वस्तु का दान करे तथा जैसा पात्र हो, वैसा ही फल प्राप्त होता है।

नवधा भक्ति के नाम ह्य

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।

वाक्कायमनः शुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः॥१६८॥

अन्वयार्थ ह्य (च) और (संग्रहम्) प्रतिग्रहण (उच्चस्थानं) ऊँचा आसन देना (पादोदकं) चरण धोना (अर्चनं) पूजा करना (प्रणामं) नमस्कार करना (वाक्कायमनः शुद्धिः) मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि रखना (च) और (एषणशुद्धिः) भोजन शुद्धि - इसप्रकार आचार्यों ने (विधिम्) नवधा भक्तिरूप विधि (आहुः) कही है।

टीका ह्य 'संग्रहम्, उच्चस्थानं, पादोदकम्, अर्चनं, प्रणामं, वाक्शुद्धिः, कायशुद्धिः, मनशुद्धिः, एषणशुद्धिः इति विधिम् आहुः।' ह्य

१. संग्रह ह्य अर्थात् पड़गाहन करना, मुनिराज को बड़े आदरपूर्वकभोजन के लिए विनती करते हुए अपने घर में प्रवेश कराना।

२. उच्चस्थान ह्य अर्थात् घर में ले जाकर उन्हें उच्च आसन पर बैठाना।

३. पादोदक ह्य अर्थात् प्रासुक ह्य निर्दोष जल से चरण धोना।

४. अर्चन ह्य अर्थात् उत्तम प्रासुक अष्ट द्रव्य से उनकी पूजा करना।
५. प्रणाम ह्य अर्थात् पूजन के बाद नम्रीभूत होकर नमस्कार करना और तीन प्रदक्षिणा देना।
६. वाक्शुद्धि ह्य अर्थात् विनयपूर्वक वचन बोलना।
७. कायशुद्धि ह्य अर्थात् अपने हाथ और शरीर शुद्ध रखना तथा उनकी सेवा करना।
८. मनशुद्धि ह्य अर्थात् मन शुद्ध करते हुए दान देने में भक्ति और सेवारूप परिणाम रखना, खोटा परिणाम न करना।
९. एषणशुद्धि ह्य अर्थात् आहार की शुद्धि रखना, आहार की सभी वस्तुएँ निर्दोष रखना।

इसप्रकार नवधा भक्तिपूर्वक ही दान देने का विधान कहा है। अतः इसीतरह आहार दान देना चाहिए। यह नवधा भक्ति मुनि महाराज के लिए ही है, अन्य के लिए तो योग्यतानुसार होनी चाहिए।

भावार्थ ह्य जो उत्तम पात्र हैं अर्थात् मुनिराज हैं, उन्हें इन नव प्रकार के विधानपूर्वक ही दान देना चाहिए। शेष जो मध्यम और जघन्य पात्र हैं, उनके दान में यथायोग्य हीनाधिक अपना तथा पात्र का गुण विचार कर विधान करना।

जो अपात्र हैं, उनके लिए प्रतिग्रहादि विधान नहीं करना; क्योंकि विषय-कषाय संयुक्त अश्रद्धानी पापी जीवों का आदर सत्कार करने से महापाप उत्पन्न होता है और उनके पाप की अनुमोदना आती है। अतः अपात्रों की भक्ति नहीं करना चाहिए।

यदि कोई अपात्र दीन-दुःखी और पीड़ित दिखाई पड़े तो दया करके उसका दुःख निवारण कर देना; परन्तु उसका (धर्मबुद्धि से) आदर-सत्कार नहीं करना।

दातार के सात गुण बताते हैं ह्य

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।

अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः॥१६९॥

अन्वयार्थ ह (ऐहिकफलानपेक्षा) इस लोक सम्बन्धी फल की इच्छा न रखना, (क्षान्ति) क्षमा अथवा सहनशीलता, (निष्कपटता) निष्कपटता, (अनसूयत्वं) ईर्ष्या रहित होना, (अविषादित्वमुदित्वे) अखिन्नभाव, हर्षभाव और (निरहङ्कारित्वं) अभिमान रहित होना, (इति) इसप्रकार ये सात (हि) निश्चय से (दातृगुणाः) दातार के गुण हैं।

टीका ह 'हि ऐहिकफलानपेक्षा, क्षान्तिः, निष्कपटता, अनसूयत्वं, मुदित्वं, निरहङ्कारित्वम् इति सप्त दातृगुणाः सन्ति।' ह

१. ऐहिकफल अनपेक्षा ह दान देकर इस लोक सम्बन्धी यश-सौभाग्य आदि अथवा अच्छे भोगोपभोग की सामग्री मिलने आदि की इच्छा न करे।
२. क्षान्ति ह दान देते समय क्षमाभाव धारण करे।
३. निष्कपटताह कपट न करना, बाहर में भक्ति करे और अन्तरंग में परिणाम खराब रखे, ऐसा नहीं करना।
४. अनसूयत्व ह दूसरे दातार के प्रति ईर्ष्याभाव ह दुर्भाव न रखना अर्थात् अपने घर में मुनिराज का आहार न हो और दूसरे के घर में हो जाये तो दूसरे के प्रति बुराभाव न करना।
५. अविषादित्व ह विषाद न करना अर्थात् हमारे यहाँ अच्छी वस्तु थी, वह हमने उनको यों ही दे दी अथवा हमारे यहाँ अच्छी वस्तु थी, वह हम नहीं दे सके, ऐसा खिन्न परिणाम न करे।
६. मुदित्व ह दान देकर हर्ष बहुत करे अर्थात् अत्यन्त आनन्दित होवे।
७. निरहङ्कारित्व ह अभिमान न करना अर्थात् हम बड़े दातार हैं, ऐसा मन में अभिमान न करना।

इस प्रकार ये दातार के सात गुण* हैं, वे प्रत्येक दातार में अवश्य होने चाहिए। इस भाँति नव प्रकार की भक्तिपूर्वक तथा सात गुण

* रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक १३३ में दाता के सात गुण इस भाँति हैं - १. भक्तिधर्म में तत्पर रहकर पात्रों के गुणों के सेवन में लीन रहकर पात्र को अंगीकार करे, प्रमाद रहित ज्ञान रहित शान्तपरिणामी हुआ पात्र की भक्ति में प्रवर्त्ते, २. तुष्टि - देने में अति आसक्त, पात्र लाभ को परम निधान का लाभ माने, ३. श्रद्धा ४. विज्ञान, ५. अलोलुप, ६. सात्त्विक, ७. क्षमा।

संयुक्त जो दातार दान देता है, उसको वह दान विशेष फल प्रदान करता है। यदि ये गुण दातार में न हों तो वह दिया हुआ दान बहुत फल देनेवाला नहीं होता।

किन् वस्तुओं का दान करना चाहिए, यह बताते हैं ह

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते।

द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्याय-वृद्धिकरम्॥१७०॥

अन्वयार्थ ह (यत्) जो (द्रव्यं) द्रव्य (रागद्वेषासंयममददुःख-भयादिकं) राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदि (न कुरुते) नहीं करता हो और (सुतपः स्वाध्याय-वृद्धिकरम्) उत्तम तप तथा स्वाध्याय की वृद्धि करने वाला हो, (तत् एव) वही (देयं) देने योग्य है।

टीका ह 'यत् (वस्तु) राग-द्वेष-असंयम-मद-दुःख-भयादिकं न कुरुते तत् एव सुतपः स्वाध्याय-वृद्धिकरं द्रव्यं देयम्।' ह

जो वस्तु राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख और भय की उत्पत्ति का कारण न हो तथा जो वस्तु तप व शास्त्रस्वाध्याय को बढ़ानेवाली हो, उसी का दान करना चाहिए।

जिस द्रव्य का दान देने से अपने कर्मों की निर्जरा हो और पात्र जीव को तप, स्वाध्याय आदि की वृद्धि हो; ऐसे द्रव्य का ही दान श्रावक को देना चाहिए; किन्तु ऐसा गरिष्ठ भोजन आदि नहीं देना चाहिए, जिससे आलस्य आदि की वृद्धि हो।

ऐसा उत्कृष्ट दान चार प्रकार का है ह

१. **आहारदान ह** क्षुधा निवारण के लिए तथा शरीर की स्थिरता के लिए आहार देना प्रथम आहार दान है।

२. **औषधदान ह** रोगादि की पीड़ा दूर करने के लिए दवा देना द्वितीय औषध दान है।

३. **ज्ञानदान ह** अज्ञान का नाश और ज्ञान का विकास करने के लिए शास्त्र आदि का देना तृतीय ज्ञानदान है।

४. अभयदान ह्यभय निवारण करना तथा जंगल में झोपड़ी, वसतिका, धर्मशाला आदि बनवाना, अँधेरे मार्ग में प्रकाश की व्यवस्था इत्यादि करवाना चतुर्थ अभय दान है।

अथवा भिक्षा, उपकरण, औषध, प्रतिश्रय के भेद से दान चार प्रकार का है। भिक्षा अर्थात् आहार, उपकरण अर्थात् धर्म के लिए उपकारी शास्त्रादि, औषध अर्थात् रोग मेटने के लिए दवा, प्रतिश्रय अर्थात् वसतिका ह्य इनका दान देना योग्य है।

इसप्रकार आत्मकल्याण के निमित्त दान देना, वही वास्तविक दान है; परन्तु जिन वस्तुओं के दान देने से संसार के विषय आदि तथा राग-द्वेष की वृद्धि हो - ऐसा दान नहीं देना चाहिए।

भावार्थ ह्य जैसे पृथ्वी, मकान, घोड़ा, हाथी, गाय, सोना, चाँदी, स्त्री, शस्त्र इत्यादि जो वस्तुएँ रागादिभाव को उत्पन्न करनेवाली हों, उनका दान नहीं देना चाहिए; क्योंकि ये सब कुदान हैं। इनके दान देने से हलकी गति के बन्ध के अलावा और कुछ नहीं होता। अतः ऐसा कुदान नहीं करना चाहिए।

पात्रों का भेद बताते हैं ह्य

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम् ।

अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१॥

अन्वयार्थ ह्य (मोक्षकारणगुणानाम्) मोक्ष के कारणरूप गुणों के अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुणों के (संयोगः) संयोगवाला (पात्रं) पात्र (अविरतसम्यग्दृष्टिः) व्रत रहित सम्यग्दृष्टि (च) तथा (विरताविरतः) देशव्रती (च) और (सकलविरतः) महाव्रती (त्रिभेदं) तीन भेदरूप (उक्तम्) कहा गया है।

टीका ह्य 'मोक्षकारणगुणानां संयोगः पात्रं त्रिभेदम् उक्तम् सकल - विरतः च विरताविरतः च अविरतसम्यग्दृष्टिः च इति ।' ह्य

मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप संयोग जिसमें पाया जाये, वह पात्र कहलाता। वे उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के हैं। सकलचारित्र और सम्यक्त्वसहित महामुनि उत्तम पात्र हैं, देशचारित्र और सम्यक्त्वसहित श्रावक मध्यम पात्र हैं और व्रत रहित सम्यक्त्व सहित श्रावक जघन्य पात्र हैं।

भावार्थ ह्य जिस जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है, वही पात्र कहे जाने योग्य है। सम्यग्दर्शन के अभाव में किसी प्रकार की पात्रता नहीं हो सकती। इसलिए द्रव्यलिंगी मुनि पात्र नहीं है; अपितु उत्तम कुपात्र है; क्योंकि उसे सम्यग्दर्शन नहीं है।

अब यहाँ विचारने की बात यह है कि पात्र का भेद व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से है अथवा निश्चयसम्यग्दर्शन की अपेक्षा से ? स्पष्ट करें।

यदि निश्चयसम्यग्दर्शन की अपेक्षा से माना जाये, तब तो उत्तम पात्र की पहचान करना साधारण जन की बुद्धि के बाहर की बात है। यदि व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से माना जाये, तो प्रथम गुणस्थानवाला जीव भी व्यवहार सम्यग्दृष्टि हो सकता है और वह उत्तम पात्र की गणना में आ सकता है। इसलिए द्रव्यलिंगी मुनि भी उत्तमपात्र हो सकता है और यही ठीक भी लगता है; कारण कि पात्र की पहचान करना श्रावक का कार्य है।

श्रावक जिस बात की जितनी परीक्षा कर सकता है, उतनी ही करेगा; अतः द्रव्यलिंगी को भी (व्यवहार) पात्रता हो सकती है। इसलिए व्यवहार सम्यग्दर्शन से पात्रों की परीक्षा करके उनको यथायोग्य विनय, आदरपूर्वक दान देना योग्य है। (अर्थात् जो पात्र व्यवहार-रत्नत्रय से संयुक्त हों, उसे यथायोग्य विनयपूर्वक दान देना उचित है।)

इसके अतिरिक्त दुखी जीवों को करुणा भाव से दान देना चाहिए, भक्तिभाव से नहीं; क्योंकि उन मिथ्यादृष्टि पापी जीवों की विनय से विनयमिथ्यात्व होता है तथा उनके पाप की अनुमोदना से स्वयं भी उनके समान पापी होता है।

जो दुखी नहीं हैं, अपनी आजीविका करने में समर्थ हैं, व्यसनी, व्यभिचारी हैं, उन्हें दान नहीं देना चाहिए। उनको दान देने से अनेक पाप उत्पन्न होते हैं। अतः उन्हें दान कदापि न दें।

उत्तम पात्र को दान देने से उत्तम भोगभूमि, मध्यम पात्र को दान देने से मध्यम भोगभूमि और जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य भोगभूमि तथा कुपात्र को दान देने से कुभोगभूमि मिलती है। अपात्र को दान देने से नरकादि गति की प्राप्ति होती है। जैसा कि रयणसार में कहा है ह

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाण सोहं वा ।

लोहीणं दाणं जई विमाण सोहा सव्वस्स जाणेहं ॥२६॥

अर्थ ह सत्पुरुषों को दान देना तो कल्पवृक्ष की तरह शोभायमान है। अर्थात् शोभा भी होती है और मनवांछित फल की प्राप्ति भी होती है तथा लोभी, पापी पुरुषों को दान देना मुर्दे के विमान की तरह शोभा है अर्थात् शोभा तो होती है; परन्तु दुख भी होता है।

जैसे मुर्दे की ठठरी का विमान बनाकर उसे सजाकर निकालने से लोक में कीर्ति और शोभा तो होती है; परन्तु घर के धनी (स्वामी) को दुखदायक होता है।

इसीप्रकार लोभी, अपात्र को दान देने से लोक में यश तो होता है; परन्तु दातार को महान पाप उत्पन्न होता है और उसका फल बुरा मिलता है। ऐसा जानकर पात्र-अपात्र का विचार करके ही दान देना योग्य है।

दान देने से हिंसा का त्याग होता है ह

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने ।

तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥१७२॥

अन्वयार्थ ह (यतः) कारण कि (अत्र दाने) यहाँ दान में (हिंसायाः) हिंसा की (पर्यायः) पर्याय (लोभः) लोभ का (निरस्यते) नाश होता है। (तस्मात्) इसलिए (अतिथिवितरणं) अतिथिदान को (हिंसाव्युपरमणमेव) हिंसा का त्याग ही (इष्टम्) कहा है।

टीका ह 'यतः अत्र दाने हिंसायाः पर्यायः लोभः निरस्यते। अतिथि-वितरणं हिंसाव्युपरमणम् एव इष्टम्।' ह

इस दान में हिंसा का एक भेद जो लोभ है, उसका त्याग होता है; क्योंकि लोभ छूटने पर अपनी वस्तु दी जाती है। इसलिए पात्र अतिथि को दान देना हिंसा का ही त्याग है; अतः अपने लिए सुखदायक है।

भावार्थ ह वास्तव में जब अपनी अन्तरंग कषाय जो लोभ है, उसका त्याग होने पर ही अपने परिणाम बाह्य वस्तु को वितरण करने के होते हैं। इसलिए लोभ कषाय का त्याग ही वास्तविक दान है और वह लोभ कषाय भावहिंसा का एक भेद है। इसलिए जो सत्पुरुष अतिथिसंविभाग में दान करते हैं, वे ही वास्तव में अहिंसाव्रत का पालन करते हैं।

महासंतोषी व्रतियों को दान नहीं देना-लोभरूप हिंसा बताते हैं ह

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते ।

वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ॥१७३॥

अन्वयार्थ ह (यः) जो गृहस्थ (गृहमागताय) घर पर आये हुए (गुणिने) संयमादि गुणों से युक्त और (मधुकरवृत्त्या) भ्रमर-समान वृत्ति से (परान्) दूसरों को (अपीडयते) पीड़ा न देनेवाले (अतिथये) अतिथि साधु को (न वितरति) भोजनादि नहीं देता, (सः) वह (लोभवान्) लोभी (कथं) कैसे (न हि भवति) न हो ?

टीका ह 'यः गृहमागताय गुणिने परान् अपीडयते अतिथये न वितरति सः लोभवान् कथं न भवति ?' ह

स्वयमेव घर पर आये हुए तथा रत्नत्रयादि गुण सहित और भ्रमर जैसी वृत्ति से दाता को कष्ट न पहुँचानेवाले अतिथि मुनि महाराज इत्यादि हैं। उनको जो गृहस्थश्रावक दान नहीं देता, वह लोभ-हिंसा संयुक्त कैसे न हो? अवश्य ही हो। (क्योंकि अन्तरंग महाकृपण बुद्धि के कारण ही तीव्र लोभ पाया जाता है। इसलिए अतिथि को दान देने के भाव नहीं होते।)

भावार्थ ह्व जिस प्रकार भौरा सभी फलों की वासना (मधु) लेता है; परन्तु किसी भी फूल को पीड़ा नहीं पहुँचाता। उसीप्रकार मुनि महाराज आदि अतिथि भी किसी भी श्रावक/गृहस्थ को किसी भी प्रकार की बाधा ह्व पीड़ा न पहुँचाते हुए आहारादिक ले लेते हैं। उनसे यह नहीं कहते कि तुम मेरे लिए भोजन बनाओ अथवा भोजन दो; परन्तु श्रावक जब स्वयं आदर-भक्तिपूर्वक बुलाता है, तब वे थोड़ा-सा रूखा-सूखा शुद्ध प्रासुक जो भी आहार मिल जाये, वह ग्रहण कर लेते हैं।

इसलिए जो श्रावक ऐसे महासंतोषी व्रतियों को भी दान नहीं देता, वह अवश्य हिंसा का भागीदार होता है और उसके अतिथिसंविभागव्रत कदापि नहीं होता।

निर्लोभी श्रावक को अहिंसक कहते हैं ह्व

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।

अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव॥१७४॥

अन्वयार्थ ह्व (आत्मार्थं) अपने लिए (कृतम्) बनाया हुआ (भक्तम्) भोजन (मुनये) मुनि को (ददाति) देवे (इति) इसप्रकार (भावितः) भावपूर्वक (अरतिविषादविमुक्तः) अप्रेम और विषाद रहित तथा (शिथिलितलोभः) लोभ को शिथिल करनेवाला (त्यागः) दान (अहिंसा एव) अहिंसा स्वरूप ही (भवति) है।

टीका ह्व 'आत्मार्थं कृतं भक्तम् मुनये ददाति इति भावितः त्यागः अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभः अहिंसैव भवति।' ह्व

जो श्रावक अपने लिए बनाया हुआ भोजन, 'मैं मुनि महाराज को देता हूँ' ह्व इसप्रकार त्यागभाव को अंगीकार करके दान देने में अरति, पश्चात्ताप, विषाद आदि दोषों का त्याग करके जिसका लोभ शिथिल होता है ह्व ऐसे श्रावक के अवश्य अहिंसा होती है।

भावार्थ ह्व इस अतिथिसंविभागवैयावृत्य शिक्षाव्रत में द्रव्य अहिंसा तो प्रकट ही है; क्योंकि दान देने से परजीव की क्षुधा-तृषा की पीड़ा मिटकर दुःख दूर होता है। दातार लोभकषाय का त्याग करता है; इसलिए भाव-अहिंसा भी होती है अर्थात् दान देनेवाला पूर्ण अहिंसा व्रत का पालन करता है।

इसप्रकार सात शीलव्रतों का वर्णन पूरा हुआ।

यहाँ तक श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन पूरा हुआ। श्रावक धर्म के सप्त शील व्रतों का कथन समाप्त।

आगे श्रावक के सल्लेखनाधर्म का व्याख्यान करते हैं।



अपने अन्तरंग में जहाँ ज्ञानस्वभाव का बहुमान है, वहाँ राग के समय भी ज्ञान की प्रभावना का और अनुमोदना का भाव आए बिना नहीं रहता। ज्ञान के बहुमान द्वारा वह थोड़े ही समय में केवलज्ञान प्राप्त करेगा। राग का फल केवलज्ञान नहीं, परन्तु ज्ञान के बहुमान का फल केवलज्ञान है और साथ में शुभराग से जो उत्तम पुण्यबन्ध है, उसके फल में समवशरण आदि की रचना होगी और इन्द्र महोत्सव करेंगे। अभी यहाँ चाहे किसी को खबर न हो, परन्तु केवलज्ञान होते ही तीन लोक में आश्चर्यकारी हलचल हो जावेगी, इन्द्र महोत्सव करेंगे और तीन लोक में आनन्द होगा।

ह्व पुय श्री कानजी स्वामी

(३) सम्यक्चारित्र अधिकार ह्य ? श्रावकधर्म व्याख्यान सल्लेखना

इसप्रकार सम्यक्त्व सहित पाँच अणुव्रतों का धारण करके सात शीलव्रतों का पालन करके अन्त में सल्लेखना अंगीकार करना चाहिए।

सल्लेखना की भावना ह्य

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम् ।

सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥१७५॥

अन्वयार्थ ह्य (इयम्) यह (एका) एक (पश्चिमसल्लेखना एव) मरण के अन्त में होनेवाली सल्लेखना ही (मे) मेरे (धर्मस्वं) धर्मरूपी धन को (मया) मेरे (समं) साथ (नेतुम्) ले जाने में (समर्था) समर्थ है। (इति) इसप्रकार (भक्त्या) भक्ति सहित (सततं) निरन्तर (भावनीया) भावना करनी चाहिए।

टीका ह्य 'इयम् एका एव मे धर्मस्वं मया समं नेतुम् समर्था इति पश्चिमसल्लेखना भक्त्या सततं भावनीया।' ह्य

यह मात्र अकेली सल्लेखना ही मेरे धर्म को मेरे साथ ले जाने में समर्थ है। इसलिए हर एक मनुष्य को इस अन्तिम सल्लेखना अथवा समाधिमरण की भक्तिपूर्वक सदा भावना करनी चाहिए।

भावार्थ ह्य संसार के कारण मिथ्यात्व तथा क्रोधादि कषाय हैं और उन्हीं के निमित्तकारण आहार आदि परिग्रह में इच्छा है। (स्वसन्मुखता के बल के द्वारा) इन सभी का त्याग करना ही सल्लेखना कहलाता है।

यह सल्लेखना भी दो प्रकार की है ह्य एक क्रम-क्रम से त्याग करना और दूसरी सर्वथा त्याग करना।

अनुक्रम से आहार का कम करना अथवा सर्वथा त्याग करना काय-सल्लेखना है तथा क्रोधादिकषाय का घटाना अथवा सर्वथा त्याग करना कषाय-सल्लेखना है। अतः विचार करके श्रावक को अपने मरण के अन्त समय अवश्य ही सल्लेखना करनी चाहिए।

मैंने जीवनपर्यन्त जो पुण्यरूप कार्य किया है तथा धर्म का पालन किया है, उस धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले चलने को यह एक सल्लेखना ही समर्थ है।

अब यदि मरण समय संन्यास धारण करेंगे तो सर्व धर्म परलोक में मेरे साथ जायेगा और यदि यहाँ परिणाम भ्रष्ट हो गये तो दुर्गति में गमन होगा; इसलिए ऐसी भावनापूर्वक श्रावक को अवश्य ही समाधिमरण करना योग्य है।

सल्लेखना धारण करने की तीव्र भावना ह्य

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि ।

इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥१७६॥

अन्वयार्थ ह्य (अहं) मैं (मरणान्ते) मरण के समय (अवश्यं) अवश्य (विधिना) शास्त्रोक्त विधि से (सल्लेखनां) समाधिमरण (करिष्यामि) करूँगा (इति) इसप्रकार (भावना परिणतः) भावनारूप परिणति करके (अनागतम् अपि) मरण काल आने से पहले ही (इदं) यह (शीलं) सल्लेखनाव्रत* (पालयेत्) पालना अर्थात् अंगीकार करना चाहिए।

टीका ह्य 'अहं मरणान्ते अवश्यं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि इति भावना परिणतः अनागतम् अपि शीलं पालयेत्।' ह्य

“मैं मरण समय अवश्य ही विधिपूर्वक समाधिमरण करूँगा” ह्य ऐसी भावना सहित श्रावक, जो प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे शील (स्वभाव) को प्राप्त कर लेता है।

* सत् = सम्यक्प्रकार से, लेखना = कषाय को क्षीण-कृश करने को सल्लेखना कहते हैं। उसके आभ्यन्तर और बाह्य दो भेद हैं। काय के कृश करने को बाह्य और अन्तरङ्ग क्रोधादि कषायों के कृश करने को आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं।

सल्लेखना कहो या संन्यास कहो, उसका धारण तो मरणान्त में होगा। अर्थात् समय-समय इस जीव की आयु घटने की अपेक्षा प्रति समय मरण हो रहा है और उसके अन्त में संन्यास धारण किया जायेगा; परन्तु पहले से ही ऐसी प्रतिज्ञा करना कि मैं मरणकाल में संन्यास धारण करूँगा ही। अतः इस प्रतिज्ञा की अपेक्षा यह शील पहले ही पालन करने में आ जाता है।

भावार्थ ह्वा श्रावक को इस बात का विचार सदैव करना चाहिए कि मैं अपने मरण समय अवश्य सल्लेखना धारण करूँगा; कारण कि मरण समय प्रायः मनुष्यों के परिणाम बहुत दुःखी हो जाते हैं तथा कुटुम्बीजनों व धनादि से ममत्वभाव नहीं छूटता।

जिसका ममत्वभाव छूट जाता है, उसी के सल्लेखना होती है। ममत्वभाव छूटने से पाप का बन्ध न होने के कारण नरकादि गति का बन्ध भी नहीं होता, इसलिए मरण समय अवश्य ही सल्लेखना करने के परिणाम रखना चाहिए।

सल्लेखना आत्मघात नहीं है ह्वा

मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे।

रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥१७७॥

अन्वयार्थ ह्वा (अवश्यं) अवश्य (भाविनि) होनेवाले (मरणे 'सति') मरण होने पर (कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे) कषाय सल्लेखना के कृश करने मात्र के व्यापार में (व्याप्रियमाणस्य) प्रवर्तमान पुरुष को (रागादिमन्तरेण) रागादिभावों के अभाव में (आत्मघातः) आत्मघात (नास्ति) नहीं है।

टीका ह्वा 'अवश्यं भाविनि मरणे कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य आत्मघातः न अस्ति।' ह्वा

जब मरण अश्वयंभावी है, तब कषाय का त्याग करते हुए, राग-द्वेष बिना ही प्राणत्याग करनेवाला जो मनुष्य है, उसको आत्मघात नहीं हो सकता।

भावार्थ ह्वा यहाँ कोई कहेगा कि संन्यास में तो अपघात का दोष आता है?

उसका सामाधान ह्वा सल्लेखना करनेवाला पुरुष जिस समय अपने मरण को अवश्यम्भावी जानता है, तब संन्यास अंगीकार करके कषाय को घटाता है और रागादि को मिटाता है; इसलिए आत्मघात का दोष नहीं है।

जैसे हाट के व्यापारि के घर में आग लग जाय और वह आग बुझाने से न बुझे तो जैसे अपना व्यवहार न बिगड़े ऐसा प्रयत्न करता है। वैसे धर्मात्मा शरीर में व्याधि होने पर उसे निर्दोष रीति से मिटाता है; न मिटने पर जिससे अपना धर्म न बिगड़े वैसा संन्यास धारण करता है।

उसकी ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं जबर्दस्ती से मरण करूँ; अपितु उसका अभिप्राय ऐसा है कि जब बलात् रूप से मरण होने ही लगे, तब मेरे परिणाम शुद्ध रहें और मैं सांसारिक विषयभोगों से ममत्व त्याग दूँ।

उसके मरण में यदि रागद्वेष हो तो आत्मघात होता है; किन्तु जो मनुष्य राग-द्वेष का त्याग कर रहा है, उसे आत्मघात नहीं हो सकता।

आत्मघाती कौन है, यह बताते हैं ह्वा

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।

व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यान्नित्यमात्मवधः ॥१७८॥

अन्वयार्थ ह्वा (हि) निश्चय से (कषायाविष्टः) क्रोधादि कषायों से घिरा हुआ (यः) जो पुरुष (कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः) श्वासनिरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादि से अपने (प्राणान्) प्राणों को (व्यपरोपयति) पृथक् करता है (तस्य) उसे (नित्यम्) सदाकाल (आत्मवधः) आत्मघात (स्यात्) होता है।

टीका ह्वा 'हि यः (श्रावकः) कषायाविष्टः (सन्) कुम्भकजलधूमकेतु-विष-शस्त्रैः प्राणान् व्यपरोपयति तस्य नित्यम् आत्मवधः स्यात्।' ह्वा

जो जीव क्रोधादि कषाय संयुक्त होकर श्वास निरोध अर्थात् फाँसी लगाकर, जल में डूबकर, अग्नि में जलकर, विष भक्षण कर या शस्त्रादि के द्वारा अपने प्राणों का वियोग करता है, उसको सदाकाल आत्मघात का दोष लगता है।

भावार्थ ह्व जो जीव क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों की तीव्रता से अथवा इष्टवियोगी के खेद से या आगामी निदान के वश होकर अपने प्राणों का घात करता है, उसको ही आत्मघात का दोष लगता है। इसप्रकार संन्यास में आत्मघात नहीं है।

विशेष ह्व सल्लेखनाधर्म (समाधिमरण विधि) मुनि और गृहस्थ दोनों के लिए है। सल्लेखना अथवा संन्यासमरण का एक ही अर्थ है, अतः बारह व्रतों के बाद सल्लेखना का वर्णन किया है।

इस सल्लेखनाव्रत की उत्कृष्ट मर्यादा बारह वर्ष तक की है, ऐसा श्री वीरनन्दी आचार्यकृत यत्याचार नामक ग्रन्थ में कहा है।

जब शरीर किसी असाध्य रोग से अथवा वृद्धावस्था से असमर्थ हो जाये, देव-मनुष्यादिकृत कोई दुर्निवार उपसर्ग आ पड़े, कोई महा दुष्काल से धान्यादि भोज्य पदार्थ दुष्प्राप्य हो जाये अथवा धर्म का नाश करनेवाला कोई विशेष कारण उपस्थित हो जाये, तब अपने शरीर को पके हुए पान के समान अथवा तेल रहित दीपक के समान स्वयमेव विनाश के सन्मुख हुआ जानकर संन्यास धारण करे।

यदि मरण में किसी प्रकार का सन्देह हो तो मर्यादापूर्वक ऐसी प्रतिज्ञा करे कि जो इस उपसर्ग में मेरी आयु पूर्ण हो गयी तो (मृत्यु हो गई तो) मेरे आहारादि का सर्वथा त्याग है और यदि कदाचित् जीवन शेष रहेगा तो आहारादिक को ग्रहण करूँगा ह्व यह संन्यास ग्रहण करने का क्रम है।

रोगादिक होने पर यथाशक्ति औषध करे; परन्तु जब रोग असाध्य हो जाये, किसी प्रकार भी उपचार से लाभ न हो तो ऐसी दशा में यह शरीर दुष्ट समान सर्वथा त्याग करने योग्य कहा है और इच्छित फलदाता धर्म, विशेषता से पालन करने योग्य कहा है।

शरीर तो मरने के बाद दूसरा भी मिलेगा; परन्तु धर्मपालन करने की योग्यता प्राप्त करना अतिशय दुर्लभ है।

इसलिए विधिपूर्वक शरीर के त्याग में शोकाकुल/दुःखी न होकर संयमपूर्वक मन, वचन, काय का उपयोग आत्मा में केन्द्रित करना चाहिए। 'जन्म, जरा, मृत्यु शरीर से सम्बन्धित हैं, मुझे नहीं हैं' ह्व ऐसा चिन्तन करके निर्ममत्वी होकर विधिपूर्वक आहार घटाकर, अपने त्रिकाली अकषाय ज्ञाता मात्र स्वरूप के लक्ष्य से काय कृश करना चाहिए। शास्त्रामृत के पान से तथा स्वसन्मुखता द्वारा कषायों को कृश करना चाहिए। पश्चात् चार प्रकार के संघ* की साक्षी से समाधिमरण में सावधान/उद्यमवन्त होना चाहिए।

अन्त की आराधना से चिरकाल की हुई सम्यक् व्रत-नियमरूप धर्म-आराधना सफल हो जाती है; क्योंकि उससे क्षण मात्र में दीर्घकाल से संचित पाप का नाश हो जाता है। यदि अन्त में मरण बिगड़ जाये अर्थात् असंयमपूर्वक या शरीर में एकत्वबुद्धिपूर्वक मृत्यु हो जाये तो जीवन भर की हुई धर्माराधना निष्फल हो जाती है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि "यदि अन्त समय समाधिमरण कर लेने से ही क्षणमात्र में पूर्वसंचित पापों का नाश हो जाता है तो फिर युवावस्था में धर्म करने की क्या आवश्यकता है? अन्त समय संन्यास धारण कर लेने से ही सब मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे"।?

उत्तर ह्व जो जीव अपनी पूर्वावस्था में धर्म से विमुख रहे हैं अर्थात् जिन्होंने तत्त्वज्ञानपूर्वक व्रत-नियम आदि धर्माराधना नहीं की है, वे जीव अन्तकाल में धर्म सन्मुख अर्थात् संन्यासयुक्त कभी नहीं हो सकते; क्योंकि 'चन्द्रप्रभचरित्र' के प्रथम सर्ग में कहा है कि ह्व

'चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरितागुणेषु दोषेषु च जायते मतिः ।' ह्व

अर्थात् चिरकाल के अभ्यास से प्रेरित करने में आई हुई बुद्धि, गुण अथवा दोषों में जाती है।

* संघ चार प्रकार का संघ=मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका।

जो वस्त्र पहले से ही उज्वल हो तो उस पर मनपसन्द रंग चढ़ सकता है; किन्तु यदि वस्त्र पहले से ही मैला हो तो उस पर कभी भी रंग नहीं चढ़ सकता। इसलिए समाधिमरण वही धारण कर सकता है, जो प्रथम अवस्था से ही धर्म की आराधना में बराबर सावधान रहा हो।

हाँ, किसी स्थान पर कभी ऐसा भी देखने में आता है कि जिसने आजीवन धर्म-सेवन में चित्त नहीं लगाया हो, वह भी अपूर्व विवेक का बल प्राप्त करके समाधिमरण अर्थात् संन्यासपूर्वक मरण करके स्वर्गादिक सुखों को प्राप्त हो गया; परन्तु वह तो काकतालीय न्यायवत् अति कठिन है। (ताड़वृक्ष से फल टूटकर उड़ते हुए कौवे के मुख में प्राप्त हो जाना जितना कठिन है, उतना ही संस्कार हीन जीवन में समाधिमरण पाना कठिन है।) इसलिए वीतराग - सर्वज्ञ के वचनों में जिसे श्रद्धा है, उसे उपर्युक्त शंका को अपने चित्त में कदापि स्थान नहीं देना चाहिए।

समाधिमरण के इच्छुक पुरुष जहाँ तक बन सके, वहाँ तक जिनेश्वर भगवान की जन्मादि तीर्थभूमियों का आश्रय ग्रहण करें। यदि ऐसा न बन सके तो मन्दिर अथवा संयमीजनों के आश्रय में रहें।

संन्यासार्थी तीर्थक्षेत्र को जाते समय सभी से क्षमा याचना करें तथा स्वयं भी मन-वचन-काय पूर्वक सब को क्षमा करें।

अन्त समय में क्षमा करनेवाला संसार का पारगामी होता है और वैर-विरोध रखनेवाला अर्थात् क्षमा न रखनेवाला अनन्त संसारी होता है।

संन्यासार्थी को पुत्र, स्त्री एवं कुटुम्बीजनों से तथा सांसारिक सर्व सम्पदा से सर्वथा मोह छोड़कर (निर्मोही निज आत्मा का भजन करना चाहिए) उत्तम साधक धर्मात्माओं की सहायता लेनी चाहिए; क्योंकि साधर्मि तथा आचार्यों की सहायता से अशुभकर्म यथेष्ट बाधा का कारण नहीं बन पाता।

व्रत के अतिचारों को साधर्मियों अथवा आचार्य के सन्मुख प्रकट करके निःशल्य होकर प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त आदि शास्त्र में वर्णित विधियों से शोधन करना चाहिए।

निर्मलभावरूपी अमृत से सिंचित समाधिमरण के लिए पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ मस्तक रखे। जो श्रावक महाव्रत की याचना करे तो निर्णायक आचार्य को उचित है कि उसे महाव्रत देवे, महाव्रत ग्रहण में नग्न होना चाहिए।

अर्जिका को भी अन्तकाल उपस्थित होने पर एकान्त स्थान में वस्त्रों का त्याग करना उचित कहा गया है। संन्यास लेने के समय (समाधिमरण के पूर्व की विधि के समय) अनेक प्रकार के योग्य आहार दिखाकर भोजन करावे अथवा यदि उसे अज्ञानतावश भोजन में आसक्त समझे तो परमार्थ के ज्ञाता आचार्य उसे उत्तम प्रभावशाली व्याख्यान द्वारा ऐसे समझावें ह

हे जितेन्द्रिय ! तू भोजन-शयनादिरूप कल्पित पुद्गलों को अब भी उपकारी समझता है ! और ऐसा मानता है कि इनमें से कोई पुद्गल ऐसा भी है कि जो मैंने कभी भोगा नहीं है। यह तो महान आश्चर्य की बात है ! भला विचार तो कर कि यह मूर्तिक पुद्गल तेरे अरूपी (आत्मा) में क्या किसी प्रकार मिल सकता है? मात्र इन्द्रियों के ग्रहणपूर्वक उसका अनुभव करके तूने ऐसा मान लिया है कि मैं उसका भोग करता हूँ।

हे दूरदर्शी ! अब ऐसी भ्रान्त-बुद्धि को सर्वथा छोड़ दे और निर्मल ज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्व में लवलीन हो। यह वही समय है कि जिसमें ज्ञानी जीव शुद्धता में सावधान रहता है और भेदज्ञान के बल से चिन्तवन करता है कि 'मैं अन्य हूँ और यह पुद्गल देहादि मेरे से सर्वथा भिन्न-जुदे ही पदार्थ हैं।'

इसलिए हे महाशय! परद्रव्यों से तुरन्त ही मोह त्याग और अपने आत्मा में निश्चल स्थिर रहने का प्रयत्न कर।

यदि किसी पुद्गल में आसक्त रहकर मरण पायेगा तो याद रख कि तुझे हलका तुच्छ जन्तु होकर इन पुद्गलों का भक्षण अनन्त बार करना पड़ेगा।

इस भोजन से तू शरीर का उपकार करना चाहता है तो किसी प्रकार भी उचित नहीं है; क्योंकि शरीर इतना कृतघ्नी है कि वह किसी के किए हुए उपकार को नहीं मानता। इसलिए भोजन की इच्छा छोड़कर केवल आत्महित में चित्त लगाने में ही बुद्धिमत्ता है।

इसप्रकार हितोपदेशरूपी अमृतधारा वर्षा कर अन्न की तृष्णा दूर कराकर कवलाहार छुड़ावे तथा दूध आदि पेय पदार्थों पर रखे। पश्चात् क्रम-क्रम से उसका भी त्याग करवाकर उष्ण जल लेने मात्र का नियम करावे।

यदि ग्रीष्मकाल, मारवाड़ जैसा उष्णप्रदेश तथा पित्त प्रकृति के कारण तृषा की पीड़ा सहन करने में असमर्थ हो तो मात्र शीतल जल लेने का नियम रखे और शिक्षा दे कि हे आराधक! हे आर्य!! परमागम में प्रशंसनीय मारणान्तिक सल्लेखना अत्यन्त दुर्लभ बताई है। इसलिए तुझे विचारपूर्वक अतिचार आदि दोषों से उसकी रक्षा करनी चाहिए।

पश्चात् अशक्ति की वृद्धि देखकर मरणकाल सन्निकट है, ऐसा निर्णय होने पर आचार्य समस्त संघ की अनुमति से संन्यास में निश्चलता के लिए पानी का भी त्याग करावे।

इसप्रकार अनुक्रम से चारों प्रकार के आहार का त्याग होने पर समस्त संघ की क्षमा करावे और निर्विघ्न समाधि की सिद्धि के लिए कायोत्सर्ग करे।

उसके बाद वचनामृत का सिंचन करे। अर्थात् संसार से वैराग्य उत्पन्न करनेवाले कारणों का उक्त आराधक के कान में, मन्द-मन्द वाणी से जप करे।

श्रेणिक, वारिषेण, सुभगादि के दृष्टान्त सुनावे और व्यवहार आराधना में स्थिर होकर निश्चय आराधना की तत्परता के लिए इस तरह उपदेश करे कि ह

हे आराधक! श्रुतस्कन्ध का 'एगो मे सासदो आदा' इत्यादि वाक्य 'णमो अरहंताणं' इत्यादि पद और 'अर्हं' इत्यादि अक्षर इनमें से जो तुझे रुचिकर लगे, उसका आश्रय करके अपने चित्त को उसमें तन्मय कर! हे आर्य! मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ ह इस श्रुतज्ञान से अपनी आत्मा का निश्चय कर! स्वसंवेदन से आत्मा की भावना कर! समस्त चिन्ताओं से पृथक् होकर प्राण विसर्जन कर!

यदि तेरा चित्त किसी क्षुधा परीषह से अथवा किसी उपसर्ग से विक्षिप्त (व्यग्र) हो गया हो तो नरकादि वेदनाओं का स्मरण करके ज्ञानामृतरूप सरोवर में प्रवेश कर; क्योंकि अज्ञानी जीव शरीर में आत्मबुद्धि अर्थात् 'मैं दुःखी हूँ' मैं दुःखी हूँ; ऐसा संकल्प करके दुःखी हुआ करता है; परन्तु भेदविज्ञानी जीव आत्मा और देह को भिन्न-भिन्न मानकर देह के कारण सुखी-दुःखी नहीं होता; किन्तु विचार करता है कि मेरा मरण ही नहीं है तो फिर भय किसका?

मुझे रोग ही नहीं है तो फिर वेदना कैसी? मैं बालक, वृद्ध या तरुण नहीं हूँ, तो फिर मनोवेदना कैसी?

हे महाभाग्य! इस तुच्छ से शारीरिक दुःख से कायर होकर प्रतिज्ञा से किंचित् मात्र भी च्युत मत होना, दृढ़चित्त होकर परम निर्जरा की अभिलाषा करना।

जबतक तू आत्मचिन्तन करता हुआ संन्यास ग्रहण करके समाधिमरण की आराधना में बैठा है, तबतक प्रति क्षण तेरे प्रचुर कर्मों का विनाश हो रहा है। क्या तू धीर-वीर पाण्डवों का चरित्र भूल गया है? जिन्हें लोहे के आभूषण अग्नि से तपाकर शत्रुओं ने पहनाये थे तो भी तपस्या से किंचित् मात्र च्युत न होकर आत्मध्यान से मोक्ष प्राप्त किया।

क्या तूने महासुकुमार, सुकुमालकुमार का चरित्र नहीं सुना है? जिनका शरीर स्यालनी ने थोड़ा-थोड़ा खा-खा करके अतिशय कष्ट देने के लिए कई दिन (तीन-दिन) तक भक्षण किया था; परन्तु किंचित् भी मार्गच्युत न होकर जिन्होंने सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग प्राप्त किया था।

ऐसे असंख्य उदाहरण शास्त्रों में हैं, जहाँ दुस्सह उपसर्ग सह करके अनेक साधुओं ने सर्वार्थसिद्धि प्राप्त की है। क्या तेरा कर्तव्य नहीं है कि उनका अनुकरण करके जीवन-धनादिक में निर्वाहक होकर, अन्तरंग परिग्रह के त्यागपूर्वक साम्यभाव से सम्यक्प्रकार कषाय को कृश करके रत्नत्रय की भावनारूप परिणामन से पंच नमस्कार मंत्र के स्मरणपूर्वक समाधिमरण करना चाहिए ह्व यह समाधिमरण की संक्षिप्त विधि है।

सल्लेखना भी अहिंसा है ह्व

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसायाः हेतवो यतस्तनुताम्।

सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम् ॥१७९॥

अन्वयार्थ ह्व (यतः) कारण कि (अत्र) इस संन्यासमरण में (हिंसाया) हिंसा के (हेतवः) हेतुभूत (कषायाः) कषाय (तनुताम्) क्षीणता को (नीयन्ते) प्राप्त होते हैं, (ततः) इसकारण (सल्लेखनाम् अपि) संन्यास को भी आचार्य (अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम्) अहिंसा की सिद्धि के लिए (प्राहुः) कहते हैं।

टीका ह्व 'यतः हिंसायाः हेतवः कषायाः अत्र (सल्लेखनायां) तनुतां नीयन्ते। ततः सल्लेखनाम् अहिंसाप्रतिद्ध्यर्थम् प्राहुः।' ह्व

हिंसा का मूलकारण कषायें हैं, वे इस सल्लेखना में क्षीण हो जाते हैं, घट जाते हैं। अतः आचार्य संन्यास को भी अहिंसा की पुष्टि के लिए कहते हैं।

भावार्थ ह्व इस संन्यास में कषायें क्षीण होती हैं और कषायें ही हिंसा के मूलकारण हैं। इसलिए संन्यास को अंगीकार करने से भी अहिंसाव्रत की ही सिद्धि होती है। इसप्रकार अन्त में सल्लेखना का कथन किया।

इन शीलों के कथन को संकोचते हैं ह्व

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।

वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ॥१८०॥

अन्वयार्थ ह्व (यः) जो (इति) इसप्रकार (व्रतरक्षार्थं) पाँच अणुव्रतों की रक्षा के लिए (सकलशीलानि) समस्त शीलों को (सततं) निरन्तर (पालयति) पालन करता है, (तम्) उस पुरुष को (शिवपदश्रीः) मोक्षरूपी लक्ष्मी (उत्सुका) अतिशय उत्कंठित (पतिंवरा इव) स्वयंवर की कन्या की तरह (स्वयमेव) स्वयं ही (वरयति) स्वीकार करती है अर्थात् प्राप्त होती है।

टीका ह्व 'इति यः व्रतरक्षार्थं सकलशीलानि सततं पालयति तम् उत्सुका शिवपदश्रीः पतिंवरा इव स्वयमेव वरयति।' ह्व

जो धर्मात्मा श्रावक इसप्रकार पाँच अणुव्रतों की रक्षा के निमित्त सप्त शीलव्रतों का पालन करता है, उसको मोक्षरूपी लक्ष्मी उत्सुक होकर स्वयंवर में कन्या की तरह स्वयं ही वरण करती है।

भावार्थ ह्व जैसे स्वयंवर में कन्या स्वयं ही अपने योग्य पुरुष को पहचानकर वरमाला डाल देती है, वैसे ही मुक्तिलक्ष्मी व्रतधारी एवं समाधिमरण करनेवाले श्रावक को स्वयं ही प्राप्त होती है। अर्थात् ऐसा व्रती श्रावक अवश्य ही मुक्तिपद को प्राप्त करता है।

इसप्रकार एक सम्यक्त्व, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत और एक सल्लेखना ह्व इसतरह श्रावक की चौदह बातों का वर्णन किया।



(३)

सम्यक्चारित्र अधिकार - १

श्रावकधर्म - व्याख्यान

अतिचार का स्वरूप

सम्यग्दर्शनादि के पाँच-पाँच अतिचारों का वर्णन करते हैं ह

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति ।

सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेयाः ॥१८१॥

अन्वयार्थं ह (सम्यक्त्वे) सम्यक्त्व में (व्रतेषु) व्रतों में और (शीलेषु) शीलों में (पञ्चपञ्च इति) पाँच-पाँच के क्रम से (अमी) ये (सप्ततिः) सत्तर (यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनः) यथार्थ शुद्धि के रोकनेवाले (अतिचाराः) अतिचार (हेयाः) छोड़ने योग्य हैं ।

टीका ह 'सम्यक्त्वे व्रतेषु (सल्लेखनायां च) पञ्च पञ्च अतिचाराः इति अमी सप्ततिः यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनः हेयाः ।' ह

सम्यग्दर्शन में, पाँच अणुव्रतों में, तीन गुणव्रतों में, चार शिक्षाव्रतों में और सल्लेखना में प्रत्येक के पाँच-पाँच अतिचार हैं । इसतरह ये सत्तर अतिचार हैं । ये सभी व्रतों की शुद्धि में दोष लगानेवाले हैं ।

भावार्थ ह व्रत का सर्वथा भंग होना तो अनाचार कहा जाता है और एकदेश भंग होना अर्थात् दूषण लगना अतिचार कहा जाता है ।

ये अतिचार व्रतों की शुद्धता को दूर करनेवाले हैं; क्योंकि व्रतों में दोष लग जाने पर उनकी शुद्धता अक्षुण्ण कैसे रह सकती है? इसतरह उपर्युक्त श्रावक की चौदह बातों के सत्तर अतिचार होते हैं ।

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार ह

शङ्का तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम् ।

मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥१८२॥

अन्वयार्थं ह (शङ्का) सन्देह (काङ्क्षा) वांछा (विचिकित्सा) ग्लानि (तथैव) उसीप्रकार (अन्यदृष्टीनाम्) मिथ्यादृष्टियों की (संस्तवः) स्तुति (च) और (मनसा) मन से (तत्प्रशंसा) अन्य मतावलम्बियों की प्रशंसा करना (सम्यग्दृष्टेः) सम्यग्दृष्टि के (अतिचाराः) अतिचार हैं ।

टीका ह 'शङ्का तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टीनां संस्तवः च मनसा प्रशंसा सम्यग्दृष्टेः अतिचाराः भवन्ति ।' ह

(१) जिनवचन में शंका करना ।

(२) व्रत पालकर इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी इष्ट वस्तु की वांछा अर्थात् सांसारिक सुखों की इच्छा करना ।

(३) अनिष्ट या दुर्गन्धमय वस्तु से अप्रीति-ग्लानि करना अथवा मुनिराज आदि के शरीर को देखकर घृणा करना ।

(४) अन्यमतावलम्बी मिथ्यादृष्टियों की वचन से बड़ाई करना कि ये भी कुछ अच्छा ही साधन करते हैं ।

(५) उनके कार्यों की मन से प्रशंसा - सराहना करना अर्थात् उनको भी अच्छा-सा जानना । - ये सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं, उनसे सम्यक्त्व मलिन होता है ।

अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार ह

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य ।

पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येते ॥१८३॥

अन्वयार्थं ह (अहिंसाव्रतस्य) अहिंसाव्रत के (छेदनताडनबन्धाः) छेदना, ताडन करना, बाँधना, (समधिकस्य) बहुत अधिक (भारस्य) बोझ का (आरोपणं) लादना (च) और (पानान्नयोः) अन्न जल का (रोधः) रोकना अर्थात् न देना (एते) इसप्रकार (पञ्च) पाँच अतिचार हैं ।

टीका ह 'छेदनताडनबन्धाः समधिकस्य भारस्य आरोपणं पानान्नयोः च रोधः एते पञ्च अहिंसाव्रतस्य अतिचाराः ।' ह

छेदन अर्थात् कान व नाक छेदना; हाथ इत्यादि काटना; ताडन अर्थात् लकड़ी, चाबुक, अरई इत्यादि से मारना; बन्ध अर्थात् एक स्थान पर बाँदकर रोककर रखना; अधिक भार अर्थात् ऊँट, बैल, घोड़ा इत्यादि के ऊपर उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना तथा योग्य समय पर घास, चारा, पानी इत्यादि न देना; - ये अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

सत्य अणुव्रत के पाँच अतिचार ह

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।

न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च ॥१८४॥

अन्वयार्थ ह (मिथ्योपदेशदानं) झूठा उपदेश देना, (रहसोऽभ्या-
ख्यानकूटलेखकृती) एकान्त की गुप्त बातों को प्रगट करना, झूठा लेख
लिखना, (न्यासापहारवचनं) धरोहर के हरण करने का वचन कहना
(च) और (साकारमन्त्रभेदः) काय की चेष्टा से जानकर दूसरे का अभिप्राय
प्रकट करना ह ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

टीका ह 'मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानं कूटलेखकृती न्यासाप-
हार-वचनं साकारमन्त्रभेदश्च इति सत्याणुव्रतस्य पञ्च अतिचाराः सन्ति।' ह

१. झूठा उपदेश देना, जिससे जीवों का अहित हो।
२. किसी स्त्री-पुरुष की गुप्त बातों को प्रकट करना।
३. झूठा लेख लिखना या झूठी रसीद आदि स्वयं लिखना।
४. किसी की धरोहर मार लेना।
५. किसी की आकृति देखकर उसका अभिप्राय प्रकट कर देना। ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

भावार्थ ह १. ऐसा झूठा उपदेश देना कि जिससे लोग कल्याणकारी धर्म को छोड़कर अधर्म में लग जायें। २. स्त्री-पुरुषों ने जो कार्य एकान्त में किए हों, उनको प्रकट कर देना। ३. जो किसी ने कहा भी नहीं, किया भी नहीं, ऐसा झूठा ही ठगने के लिए लिखना कि उसने ऐसा कहा है, ऐसा किया है - इसप्रकार कपटपूर्वक लिखना, झूठी पहुँच लिख देना अथवा जबरदस्ती से लिखा लेना कूटलेख है।

४. अपने पास कोई मनुष्य धरोहर रख गया हो और जब वह उसे वापस लेने आवे, तब भूल से जितनी रख गया था, उससे कम माँगने लगे तो उससे कहना कि हाँ, इतनी ही थी अथवा यह कहना कि भाई, जितनी हो उतनी ले जाओ, उसे न्यासापहार कहते हैं। ५. किसी की आकृति को देखकर उसका अभिप्राय जानकर उसे प्रकट कर देना कि इसका ऐसा अभिप्राय है। ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

अचौर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार ह

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहतादानम्।

राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥

अन्वयार्थ ह (प्रतिरूपव्यवहारः) प्रतिरूप व्यवहार अर्थात् असली चीज में नकली चीज मिलाकर बेचना, (स्तेननियोगः) चोरी करनेवालों की सहायता करना, (तदाहतादानम्) चोरी की लाई हुई वस्तुओं को रखना, (च) और (राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे) राज्य द्वारा आदेशित नियमों का उल्लंघन करना, माप या तौल के गज, मीटर, काँटा, तराजू आदि के माप में हीनाधिक करना, (एते पञ्च स्तेयव्रतस्य) ये पाँच अचौर्याणुव्रत के (अतिचाराः) अतिचार हैं।

टीका ह 'प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगः तदाहतादानं राजविरोधातिक्रमः च हीनाधिकमानकरणे इति अचौर्याणुव्रतस्य पञ्च अतिचाराः सन्ति।' ह

१. झूठी वस्तु को (अशुद्धवस्तु को) शुद्ध वस्तु की तरह बनाकर असली वस्तु में मिलाकर चलाना (नकली सिक्के को असली सिक्के में मिलाकर चलाना), इसका नाम प्रतिरूप व्यवहार है। २. चोरी की प्रेरणा करना, अनुमोदना करना अथवा चोरी करने का उपाय बताना स्तेनप्रयोग अतिचार है। ३. चोरी की वस्तु को खरीदना तीसरा अतिचार है। ४. राजाज्ञा का उल्लंघन करना अथवा राजकर न देना चौथा अतिचार है।

५. अधिक मूल्यवाली वस्तु में कम मूल्यवाली वस्तु मिला देना, अधिक मूल्य की वस्तु थोड़े मूल्य में ले लेना, मापने-तौलने के उपकरण मीटर, तराजू-काँटा इत्यादि हीनादिक रखना अथवा कम-बढ़ तौलकर देना-लेना - यह पाँचवाँ अतिचार है। इसप्रकार अचौर्याणुव्रत के इन पाँच अतिचारों का वर्णन किया।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार ह

स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्क्रीडान्यपरिणयनकरणम् ।

अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च ॥१८६॥

अन्वयार्थ ह (स्मरतीव्राभिनिवेशः) कामसेवन की अतिशय इच्छा रखना, (अनङ्क्रीडा) योग्य अंगों को छोड़कर दूसरे अंगों के साथ काम क्रीडा करना, (अन्यपरिणयनकरणम्) दूसरे का विवाह करना (च) और (अपरिगृहीतेतरयोः) कुँवारी अथवा विवाहित (इत्वरिकयोः)* व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास (गमने) जाना, लेन-देन आदि का व्यवहार करना, (एते ब्रह्मव्रतस्य) ये ब्रह्मचर्यव्रत के (पञ्च) पाँच अतिचार हैं।

टीका ह 'स्मरतीव्राभिनिवेशः अनङ्क्रीडा अन्यपरिणयनकरणम् इत्वरिकयोः अपरिगृहीता गमनं च इत्वरिका परिगृहीता गमनं च इति पञ्च अतिचाराः ब्रह्मचर्याणुव्रतस्य सन्ति ।'ह

१. काम-भोग विषय सेवन करने की अत्यन्त लालसा रखना, २. जो विषय सेवन करने के अंग योनि, लिंग हैं, उन्हें छोड़कर मुख, नाभि, स्तन आदि अनंगों में रमण करना, ३. दूसरे के पुत्र-पुत्रियों का विवाह करवाना या करना, ४. व्यभिचारिणी वेश्या अथवा कन्या इत्यादि के साथ लेन-देन आदि व्यवहार रखना, वार्तालाप करना, रूपश्रृंगांरादि देखना, ५. व्यभिचारिणी विवाहित स्त्री के साथ भी इसी प्रकार व्यवहार करना - ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

* रत्नकरण्डश्रावकाचार गा० ६० में इत्वरिका गमन का अर्थ ऐसा किया है - इत्वरिका जो व्यभिचारिणी स्त्री उसके घर जाना अथवा उसे अपने घर बुलाना (धनादि का) लेन-देन रखना, परस्पर वार्ता करना, श्रृंगार देखना ये इत्वरिका गमन नाम के अतिचार हैं।

परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतिचार ह

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम् ।

कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रियाः पञ्च ॥१८७॥

अन्वयार्थ ह (वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्) घर, भूमि, गोधन, सोना, चाँदी, धन, धान्य, दास, दासी और (कुप्यस्य) वस्त्रादिक के (भेदयोः) दोनों भेदों का (अपि) भी (परिमाणातिक्रियाः) परिमाण का उल्लंघन करना (एते अपरिग्रहव्रतस्य) ये अपरिग्रहव्रत के (पञ्च) पाँच अतिचार हैं।

टीका ह 'वास्तु क्षेत्र परिमाणातिक्रमः, अष्टापदहिरण्य-परिमाणातिक्रमः धनधान्यपरिमाणातिक्रमः दासदासीरिपरिमाणातिक्रमः, अपि कुप्यस्य भेदयोः परिमाणातिक्रमः इति परिग्रहपरिमाणव्रतस्य पञ्च अतिचाराः सन्ति ।'ह १. घर और क्षेत्र का परिमाण बढ़ा देना, २. सोना -चाँदी का परिमाण बढ़ा देना, ३. गाय, भैंस, घोड़ा, गेहूँ, चना आदि का परिमाण बढ़ा देना, ४. दास-दासी का परिमाण बढ़ा देना, ५. कुप्य अर्थात् गरम और सूती दोनों प्रकार के वस्त्रों का परिमाण बढ़ा देना; इसप्रकार ये परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतिचार हैं।

दिग्रव्रत के पाँच अतिचार ह

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम् ।

स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथमशीलस्य ॥१८८॥

अन्वयार्थ ह (ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः) ऊपर, नीचे और समान भूमि की ली हुई मर्यादा का उल्लंघन करना अर्थात् जितना प्रमाण किया हो, उससे बाहर चले जाना, (क्षेत्रवृद्धिः) परिमाण किये हुए क्षेत्र की लोभादिबश वृद्धि करना और (स्मृत्यन्तरस्य) स्मृति के अलावा क्षेत्र की मर्यादा (आधानम्) धारण करना अर्थात् मर्यादा को भूल जाना (इति) इसप्रकार (पञ्च) पाँच अतिचार (प्रथमशीलस्य) प्रथम शील अर्थात् दिग्रव्रत के (गदिताः) कहे गए हैं।

टीका ह 'ऊर्ध्व व्यतिक्रमः, अधस्तात्-तिर्यक् व्यतिक्रमाः, क्षेत्रवृद्धिः स्मृत्यन्तरस्य आधानम् इति पञ्च अतिचाराः प्रथमशीलस्य दिग्ब्रतस्य सन्ति ।' ह १. मर्यादा की हुई ऊपर की दिशाओं का उल्लंघन करना । जैसे पर्वत पर चढ़ना या हवाई जहाज से आकाश में ऊपर उड़ना, २. मर्यादा की हुई नीचे की दिशाओं का उल्लंघन करना, जैसे गहरे कुएँ में घुसना, समुद्र में डुबकी लगाना अथवा कोयला आदि की खान में उतरना, ३. मर्यादा की हुई तिर्यक् दिशाओं का उल्लंघन करना, जैसे गुफा इत्यादि में प्रवेश करना, ४. मर्यादा किये हुए क्षेत्र को बढ़ाना अर्थात् जो दिशाओं का प्रमाण किया था, उसे लोभ के वश से अधिक बढ़ा लेना, यह अतिचार प्रमाद या मोह से होता है, ५. परिमाण की हुई मर्यादा को भूलकर सीमा बढ़ा लेना - ये दिग्ब्रत के पाँच अतिचार हैं ।

देशव्रत के पाँच अतिचार ह

प्रेष्यस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ ।

क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति ॥१८९॥

अन्वयार्थ ह (प्रेष्यस्य संप्रयोजनम्) प्रमाण किये हुए क्षेत्र के बाहर दूसरे मनुष्य को भेजना, (आनयनं) वहाँ से कोई वस्तु मँगाना (शब्दरूपविनिपातौ) शब्द सुनाना, रूप दिखाकर इशारा करना और (पुद्गलानां) कंकड़ आदि पुद्गल (क्षेपःअपि) भी फेंकना (इति) इसप्रकार (पञ्च) पाँच अतिचार (द्वितीयशीलस्य) दूसरे शील के अर्थात् देशव्रत के कहे गए हैं ।

टीका ह 'प्रेष्यस्य संप्रयोजनम्, आनयनं, शब्दरूपविनिपातौ, पुद्गलानां क्षेपः इति पञ्च अतिचाराः द्वितीयशीलस्य सन्ति ।' ह

१. स्वयं तो मर्यादित क्षेत्र के अन्दर ही रहना; परन्तु नौकर-चाकर को मर्यादा से बाहर भेज देना, २. मर्यादा से बाहर की कोई वस्तु मँगाना, ३. मर्यादा के बाहर शब्द करके/बोल करके अपना काम करवाना,

४. मर्यादा के बाहर अपना रूप दिखाकर स्वार्थ साधन करना, ५. मर्यादा के बाहर कोई वस्तु इत्यादि फेंककर अपना कार्य साध लेना - ये देशव्रत के पाँच अतिचार हैं ।

अनर्थदण्डत्यागव्रत के पाँच अतिचार ह

कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम् ।

असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥१९०॥

अन्वयार्थ ह (कन्दर्पः) काम के वचन बोलना, (कौत्कुच्यं) भांडरूप अयोग्य कायचेष्टा करना, (भोगानर्थक्यम्) भोग-उपभोग के पदार्थों का अनर्थक्य, (मौखर्यम्) वाचालता (च) और (असमीक्षिताधिकरणं) विचार किये बिना कार्य करना; (इति) इसप्रकार (तृतीयशीलस्य) तीसरे शील अर्थात् अनर्थदण्डविरति व्रत के (अपि) भी (पञ्च) पाँच अतिचार हैं ।

टीका ह 'कन्दर्पः, कौत्कुच्यं, भोगानर्थक्यं, मौखर्यं च असमीक्षिताधिकरणम् इति तृतीयशीलस्य पञ्च अतिचाराः सन्ति ।' ह

१. रागभाव से हास्य सहित भांड वचन बोलना, २. हास्य वचन सहित काय की कुचेष्टा करना, ३. प्रयोजन से बहुत अधिक भोगोपभोग सामग्री को एकत्र करना, ४. धृष्टता युक्त बोलना तथा लड़ाई-झगड़ा करनेवाले वचन बोलना, ५. बिना प्रयोजन वचन-काय का व्यापार बढ़ाते जाना अथवा बिना विचार किये निष्प्रयोजन कार्य करना - ये ही अनर्थदण्डत्यागव्रत के पाँच अतिचार हैं ।

सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार ह

वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानं त्वनादरश्चैव ।

स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य ॥१९१॥

अन्वयार्थ ह (स्मृत्यनुपस्थानयुताः) स्मृति अनुपस्थान सहित (वचनमनःकायानां) वचन, मन और काय की (दुःप्रणिधानं) खोटी प्रवृत्ति (तु) और (अनादरः) अनादर (इति) इसप्रकार (चतुर्थशीलस्य) चौथे शील अर्थात् सामायिकव्रत के (पञ्च) पाँच (एव) ही अतिचार हैं ।

टीका ह्व 'वचनप्रणिधानं, मनःप्रणिधानं, कायप्रणिधानं तु अनादरः च स्मृत्यनुपस्थानयुताः इति चतुर्थशीलस्य पञ्च अतिचाराः सन्ति।' ह्व

१. वचन का दुरुपयोग करना अर्थात् सामायिक करते समय मन्त्र का उच्चारण अथवा सामायिक पाठ का उच्चारण ठीक न करना, २. मन का दुरुपयोग अर्थात् मन में बुरी भावना उत्पन्न होना, मन में अनेक संकल्प-विकल्प उठना, ३. काय का दुरुपयोग अर्थात् सामायिक करते समय हाथ-पैर हिलाना, ४. अनादर अर्थात् आदरपूर्वक न करना, बेकार समझकर उसे जैसे-तैसे पूरी करने की इच्छा करना, ५. स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् एकाग्रता न होने के कारण पाठ भूल जाना ह्व ये सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार हैं।

सामायिक में मन, वचन और काय तीनों की एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता है। इन तीनों को वश किये बिना सामायिक हो ही नहीं सकती, अतः इन्हें अवश्य ही वश करना चाहिए।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार ह्व

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः।

स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥१९२॥

अन्वयार्थ ह्व (अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं) देखे बिना अथवा शुद्ध किये बिना किसी वस्तु का ग्रहण करना, (संस्तरः) चटाई आदि बिस्तर लगाना (तथा) तथा (उत्सर्गः) मल-मूत्र का त्याग करना (स्मृत्यनुपस्थानम्) उपवास की विधि भूल जाना (च) और (अनादरः) अनादर - ये (उपवासस्य) उपवास के (पञ्च) पाँच अतिचार हैं।

टीका ह्व १. 'अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं, २. अनवेक्षिताप्रमार्जित-संस्तरः, ३. अनवेक्षिताप्रमार्जित उत्सर्गः, ४. स्मृत्यनुपस्थानम्, ५. अनादरश्च इति पञ्च अतिचाराः उपवासस्य सन्ति।' ह्व

१. बिना देखे अथवा कोमल उपकरण से बिना पौँछे पूजनादि सामग्री व वस्त्रादि ग्रहण करना, २. उसीप्रकार बिना देखे, बिना पौँछे बैठना, सोना या बिस्तर लगाना; ३. बिना देखे, बिना साफ किये, भूमि

पर मल-मूत्र का त्याग करना, ४. उपवास में एकाग्रता न होना अथवा विधि भूल जाना और ५. तप व उपवास की विधि में अनादर (उदासीनता) करना अथवा शीघ्र पूर्ण होने की आकुलता रहना, ये प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार हैं।

भोग-उपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार ह्व

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रः सचित्तसम्बन्धः।

दुष्पक्वोऽभिषवोऽपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ॥१९३॥

अन्वयार्थ ह्व (हि) निश्चय से (सचित्तः आहारः) सचित्त आहार, (सचित्तमिश्रः) सचित्त मिश्र आहार, (सचित्तसम्बन्धः) सचित्त के सम्बन्धवाला आहार, (दुष्पक्वः) दुष्पक्व आहार (च अपि) और (अभिषवाहारः) अभिषव आहार* (अमी) ये (पञ्च) पाँच अतिचार (षष्ठशीलस्य) छठवें शील अर्थात् भोगोपभोगपरिमाणव्रत के हैं।

टीका ह्व 'हि सचित्तः आहारः, सचित्तमिश्रः आहारः, सचित्तसम्बन्धः आहारः च दुःपक्वः आहारः अभिषवाहारः इति अमी पञ्च अतिचाराः षष्ठशीलस्य सन्ति।' ह्व

१. निश्चय ही सचित्त ह्व जीवसहित कच्ची हरी वस्तु का आहार करना, २. सचित्ताचित्त के मिश्रणवाली वस्तु का आहार करना, ३. हरी ह्व सचित्त से ढाँकी हुई व स्पर्शित हुई वस्तु का आहार लेना, ४. ऐसी वस्तु का आहार करना जो अग्नि पर भले प्रकार पकाई न गई हो अथवा अधिक पक गई हो या कुछ कच्ची (अधपकी) रह गई हो तथा ५. गरिष्ठ अर्थात् कामोद्दीपक वस्तु का आहार करना - ये पाँच भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार हैं।

भावार्थ ह्व यद्यपि इस भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत का पालक श्रावक अभी सचित्त का त्यागी नहीं है तो भी सचित्तत्याग प्रतिमा के पालन के अभ्यास के लिए तथा खाद्य पदार्थों में अधिक लालसा मिटाने के लिए ही उसे इन अतिचारों को टालना चाहिए।

* अभिषव आहारः दुग्धवृतादिक मिश्रित कामोत्पादक आहार।

वैयावृत्य अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार ह
 परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च ।
 कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥

अन्वयार्थ ह (परदातृव्यपदेशः) परदातृव्यपदेश, (सचित्तनिक्षेप-
 तत्पिधाने च) सचित्तनिक्षेप और सचित्तपिधान, (कालस्यातिक्रमणं)
 काल का अतिक्रम (च) और (मात्सर्यं) मात्सर्य (इति) इसप्रकार
 (अतिथिदाने) अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार हैं।

टीका ह 'अतिथिदाने परदातृव्यपदेशः, अतिथिदाने सचित्तनिक्षेपः,
 अतिथिदाने सचित्तपिधानं, अतिथिदाने कालस्य अतिक्रमणं च अतिथिदाने
 मात्सर्यम् इति पञ्च अतिचाराः वैयावृत्यस्य सन्ति ।' ह

१. घर का कार्य अधिक होने के कारण अपने हाथ से आहार न
 देकर किसी दूसरे के हाथ से दिलवा देना, २. आहार की वस्तु को
 कमलपत्रादिक हरे पत्तों में रखना, ३. आहार की वस्तु को उपर्युक्त हरे
 पत्तों से ढाँकना, ४. मुनि महाराज की आहारचर्या के समय घर पर न
 मिलना अर्थात् भोजन के काल का उल्लंघन करना, ५. दान देते समय
 आदरभाव न होना अथवा अपने घर मुनिराज के आहार की विधि न
 मिल सकने के कारण या अपने घर मुनिराज के न आने के कारण यदि
 दूसरे श्रावक के घर मुनिराज का आहारदान हो जाये तो उस श्रावक के
 प्रति द्वेष रखना - ये पाँच अतिचार अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत के हैं।

सल्लेखना के पाँच अतिचार ह

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च ।

सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥१९५॥

अन्वयार्थ ह (जीवितमरणाशंसे) जीवन की आशंसा, मरण की
 आशंसा, (सुहृदनुरागः) सुहृद अर्थात् मित्र के प्रति अनुराग,
 (सुखानुबन्धः) सुख का अनुबन्ध (च) और (सनिदानः) निदान सहित
 (एते) ये (पञ्च) पाँच अतिचार (सल्लेखनाकाले) समाधिमरण के समय
 (भवन्ति) होते हैं।

टीका ह 'जीविताशंसा मरणाशंसा सुहृदनुरागः सुखानुबन्धः च
 सनिदानः इति एते पञ्च सल्लेखनाकाले अतिचाराः भवन्ति ।' ह

१. सल्लेखना धारण करने के बाद जीने की वांछा करना, किसी
 प्रकार मरण न हो, ऐसी इच्छा करना, २. सल्लेखना धारण करने के बाद
 अधिक रोगवेदना हो रही हो तो ऐसी इच्छा करना कि मेरा शीघ्र मरण
 हो जाये तो अच्छा, ३. पूर्व के मित्रों का स्मरण करना कि अमुक मित्र
 बहुत अच्छे थे और मैं उनके साथ क्रीड़ादिक कार्य करता था, ४. पूर्व
 में जो सुखसाता की सामग्री भोगी थी, उसे याद करना तथा वे भोग मुझे
 कब मिलेंगे, ऐसा चिन्तन करना, ५. आगामी काल में अच्छे-अच्छे
 भोगों की प्राप्ति की इच्छा करना - ये सल्लेखना के पाँच अतिचार हैं।

इसप्रकार यहाँ तक १ सम्यग्दर्शन, ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४
 शिक्षाव्रत और १ सल्लेखना - इन चौदह के सत्तर अतिचारों का वर्णन
 कर चुके हैं। अतः नैष्ठिक श्रावक को इन सबका जहाँ तक जितना बन
 सके, उतना यथाशक्ति अतिचार रहित पालन करना चाहिए, तभी
 मनुष्यभव मिलना सार्थक है।

उपर्युक्त चौदह व्रत तीनों प्रकार के श्रावक पालते हैं।

१. पाक्षिक श्रावक ह यह सम्यग्दर्शन का धारक होता है। यह सात
 व्यसनों का त्यागी और आठ मूलगुणों का पालक होता है।

२. नैष्ठिक श्रावक ह यह ऊपर की बातों सहित बारह व्रतों का
 पालन करता है, यह नैष्ठिक अवस्था जीवन पर्यन्त रहती है।

३. साधक श्रावक ह जब मरण का समय निकट आवे, तब यह
 नैष्ठिक श्रावक साधक अवस्था को प्राप्त हो सकता है।

इसप्रकार जो मनुष्य इन तीनों अवस्थाओं को प्राप्त करता है, वह
 अवश्य स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है और परम्परा से मोक्ष प्राप्त कर लेता
 है - यही मोक्षप्राप्ति का क्रम है।

अतिचार के त्याग करने का फल ह

इत्येतानतिचारानपरानपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य ।

सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ॥१९६॥

अन्वयार्थ ह (इति) इसप्रकार गृहस्थ (एतान्) इन पूर्वोक्त (अतिचारान्) अतिचार और (अपरान्) दूसरे दोषोत्पादक अतिक्रम व्यतिक्रम आदि का (अपि) भी (संप्रतर्क्य) विचार करके (परिवर्ज्य) छोड़कर (अमलैः) निर्मल (सम्यक्त्वव्रतशीलैः) सम्यक्त्व, व्रत और शील द्वारा (अचिरात्) अल्प काल में ही (पुरुषार्थसिद्धिम्) पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि (एति) पाते हैं ।

टीका ह 'इति एतान् अतिचारान् अपि अपरान् सम्प्रतर्क्य च परिवर्ज्य अमलैः सम्यक्त्वव्रतशीलैः अचिरात् पुरुषार्थसिद्धिम् एति ।' ह

इसप्रकार इन अतिचारों तथा अन्य भी जो दोष हैं, उन्हें जो पुरुष भले प्रकार विचार करके छोड़ता है और निर्दोष सम्यग्दर्शन, ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत - इन सभी व्रतों के पालन द्वारा जीव शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है ।

भावार्थ ह पुरुष नाम आत्मा का है और अर्थ नाम मोक्ष का है । इसप्रकार (स्वाश्रय निश्चयशुद्धि सहित) व्रतों के पालन से सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होने से शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है । बिना तप के सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं होती ।

पण्डित प्रवर टोडरमलजी कृत भाषा टीका समाप्त ।

आगे सकलचारित्र-व्याख्यान की भाषा टीका पण्डित श्रीदौलतरामजी कासलीवाल कृत है ।



(३)

सम्यक्चारित्र अधिकार

तप का स्वरूप

तप का व्याख्यान करते हैं ह

चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम् ।

अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ॥१९७॥

अन्वयार्थ ह (आगमे) जैन आगम में (चारित्रान्तर्भावात्) चारित्र के अन्तर्वर्ती होने से (तपः) तप को (अपि) भी (मोक्षाङ्गम्) मोक्ष का अंग (गदितम्) कहा गया है, अतः (अनिगूहितनिजवीर्यैः) अपना पराक्रम न छुपानेवाले तथा (समाहितस्वान्तैः) सावधान चित्तवाले पुरुषों को (तदपि) उस तप को भी (निषेव्यम्) सेवन करना योग्य है ।

टीका ह 'चारित्रान्तर्भावात् तपः अपि आगमे मोक्षाङ्गं गदितम् । अत एव अनिगूहितनिजवीर्यैः समाहितस्वान्तैः तदपि निषेव्यम् ।' ह

सम्यक्चारित्र में समाविष्ट हो जाने के कारण तप को तो जैनसिद्धान्त में मोक्ष का कारण कहा गया है । अतः अपनी शक्ति छिपाये बिना मन को वशीभूत करके उस तप का भी आचरण करना चाहिए ।

भावार्थ ह (भूतार्थ का आश्रय करनेवाले को) तप एक प्रकार का व्यवहार चारित्र है । व्यवहारचारित्र से निश्चयचारित्र की जो कि सम्यक्चारित्र है, उसकी प्राप्ति होती है अर्थात् यह नियम है कि तपश्चरण बिना निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती ही नहीं । इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को अवश्य (सर्वज्ञ-वीतराग कथित सम्यक्) तप धारण करना चाहिए ।

(विशेष ह्य चारित्र तो वीतरागता ही है और वह निज शुद्धात्मा के आश्रय से ही प्रकट होता है; परन्तु वहाँ उस समय व्यवहार आचरण कैसा होता है, उसे बताने के लिए उसे व्यवहारनय से कारण कहा है। राग है, वह तो बाधक ही है; परन्तु उस भूमिका के योग्य राग उस गुणस्थान का नाशक नहीं है, इतना सम्बन्ध (मेल) बताने के लिए उपचार - व्यवहार निरूपण की यह रीति है। राग करते-करते निश्चयचारित्र नहीं हो सकता। इसप्रकार प्रथम से ही निस्सन्देह प्रतीति करनी चाहिए।)

बाह्य और अन्तरंग के भेद से तप दो प्रकार का है।

पहले बाह्य तप के भेद कहते हैं ह्य

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः।

कायक्लेशो वृत्तेः संख्या च निषेव्यमिति तपो बाह्याम् ॥१९८॥

अन्वयार्थ ह्य (अनशनं) अनशन, (अवमौदर्यं) ऊनोदर, (विविक्त-शय्यासनं) विविक्त शय्यासन, (रसत्यागः) रसपरित्याग, (कायक्लेशः) कायक्लेश (च) और (वृत्तेः संख्या) वृत्ति की संख्या (इति) इसप्रकार (बाह्यां तपः) बाह्यतप का (निषेव्यम्) सेवन करना योग्य है।

टीका ह्य 'अनशनम् अवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः कायक्लेशः च वृत्तेः संख्या बाह्यां तपः इति निषेव्यम्।' ह्य

१. अनशन तप ह्य अर्थात् उपवास द्वारा चार प्रकार के आहार का त्याग करना। खाद्य ह्य खाने की वस्तुएँ, स्वाद्य ह्य ताम्बूल, सुपारी, इलायची आदि स्वाद लेने की वस्तुएँ। लेह्य ह्य चाटने की वस्तुएँ। पेय ह्य पीने की वस्तुएँ- इन सभी का त्याग करना अनशन है।

२. अवमौदर्य तप ह्य अर्थात् एकासन करना, भूख से कम खाना। इन दोनों प्रकार के तप द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है। ध्यान की प्राप्ति होती है, निद्रा मिटती है, सन्तोष होता है, स्वाध्याय करने में मन लगता है तथा दोष घटता है।

३. विविक्त शय्यासन ह्य जहाँ विषयी जीवों का संचार - आवागमन न हो, ऐसे एकान्त स्थान में रहना, इससे बाधा रहित ब्रह्मचर्य का पालन होता है और ध्यानाध्ययन भी होता है।

४. रसत्याग ह्य दूध, दही, घी, शक्कर, तेल ह्य इन पाँच रसों का त्याग तथा नमक और हरी वस्तुओं का भी त्याग करना, रसत्याग कहलाता है।

यद्यपि रस तो पाँच ही हैं तो भी इन्द्रिय संयम की अपेक्षा से सातों का त्याग करना चाहिए।

इनके त्याग का क्रम नमक, हरी वस्तु, मिष्टवस्तु, घी, दूध, दही और तेल ह्य इसप्रकार है और यह रविवार के दिन से प्रारम्भ करना चाहिए। इसमें परिणामों की शुद्धि के अनुसार इन्द्रियों का दमन होता है, निद्रा जीती जाती है, आलस्य मिटता है, स्वाध्याय एवं सुख की सिद्धि होती है।

५. कायक्लेश ह्य शरीर को परीषह उत्पन्न करके पीड़ा सहन करना कायक्लेश है। इसके अभ्यास करने से अनेक कठोर उपसर्ग सहन करने की शक्ति बढ़ती है। शरीर के साथ ममत्वभाव घटता है। राग का अभाव होता है एवं जैन धर्म की प्रभावना होती है।

६. वृत्तिसंख्या ह्य वृत्ति की मर्यादा कर लेना, जैसे कि आज मुझे ऐसा भोजन मिले, तभी आहार करूँगा अथवा इतने घर भोजन के लिए जाऊँगा, इत्यादि प्रकार से नियम कर लेना; इसका नाम वृत्ति परिसंख्या है, इससे आशा का नाश होता है।

इसप्रकार ये षट् भेदरूप बाह्यतप का निरूपण किया, जो सेवन करने योग्य है।

ये तप बाह्य वस्तु की अपेक्षा रखते हैं तथा अन्य जीवों को भी दिखते हैं, अतः इन्हें बाह्य तप कहते हैं।

अब अन्तरंग तपों का निरूपण करते हैं ह

अन्तरंगतप के छह भेद हैं ह

विनयो वैयावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।

स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति॥१९९॥

अन्वयार्थं ह (विनयः) विनय, (वैयावृत्त्यं) वैयावृत्त्य, (प्रायश्चित्तं) प्रायश्चित्त (तथैव च) और इसी प्रकार (उत्सर्गः) उत्सर्ग (स्वाध्यायः) स्वाध्याय (अथ) और (ध्यानं) ध्यान (इति) इसतरह (अन्तरङ्गम्) अन्तरंग (तपः) तप (निषेव्यं) सेवन करने योग्य (भवति) है।

टीका ह 'विनयः वैयावृत्त्यं प्रायश्चित्तं च उत्सर्गः तथैव स्वाध्यायः ध्यानम् इति अन्तरङ्गतपः निषेव्यम्।'

१. विनय - विनय अर्थात् पूज्य में आदरभाव। पूज्यपना सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में पाया जाता है। अतः इन्हें अत्यन्त आदरपूर्वक अंगीकार करना चाहिए, यही वास्तविक विनय है।

विनय नामक अन्तरंग तप चार प्रकार का है। १. दर्शन विनय, २. ज्ञान विनय, ३. चारित्र विनय और ४. उपचार विनय।

१. दर्शनविनय ह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय करना, सम्यग्दर्शन के माहात्म्य का प्रचार करना, सम्यग्दृष्टि जीवों की वृद्धि हो ह ऐसा प्रयत्न करना तथा अपना सम्यग्दर्शन सदा निर्दोष रखना, यह दर्शन-विनय है।

२. ज्ञानविनय ह ज्ञान की प्राप्ति करना, ज्ञान का प्रचार करना, स्वाध्यायशाला, विद्यालय खुलवाना, विनय सहित शास्त्र बाँटना - देना, शास्त्र बाँचना - यह सभी ज्ञान विनय है।

३. चारित्रविनय ह चारित्र प्राप्त करना, चारित्र का उपदेश देना इत्यादि चारित्र विनय है।

४. उपचारविनय ह रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारक धर्मात्माओं की तथा अन्य धर्मात्मा बन्धुओं की शारीरिक विनय करना। उनके आने पर उठकर खड़ा हो जाना, नमस्कार करना, हाथ जोड़ना, चरण स्पर्श करना आदि यह सब उपचारविनय है।

प्रत्यक्ष व परोक्ष तीर्थक्षेत्र की वन्दना भी उपचार विनय है। पूजा-भक्ति करना भी उपचार विनय है। रत्नत्रय की प्राप्ति करना, वही सच्ची विनय है।

इसप्रकार विनय तप का वर्णन किया। इससे मानकषाय मिटती है तथा ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति होती है।

२. वैयावृत्त्य ह अपने गुरु आदि पूज्य पुरुष आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, अर्जिका, श्रावक, श्राविका, त्यागी इत्यादि धर्मात्मा सज्जनों की सेवा-शुश्रूषा करना, कभी किसी व्रतधारी को कोई रोग हो जाये तो शुद्ध प्रासुक औषधि द्वारा उनका रोग दूर करना, जंगलों में वसतिका, कुटी आदि बनवाना, यह सब वैयावृत्त्य ही है। इससे अनुराग प्रकट होता है, मानभाव मिटता है, इत्यादि गुण होते हैं।

३. प्रायश्चित्त ह प्रमाद से जो कुछ दोष लगा हो, उसको अपने गुरु के सामने प्रकट करना, उसकी आज्ञाप्रमाण उस दोष को स्वीकार करके, भविष्य में पुनः उसे न करने की प्रतिज्ञा करना तथा उनके द्वारा आदेशित दण्ड को स्वीकार करके तदनुरूप आचरण करना प्रायश्चित्त अन्तरंग तप है। इससे व्रतचारित्र की शुद्धि होती है। परिणामों की शल्य मिटती है तथा मानादि कषायें घटती हैं।

प्रायश्चित्त तप के नौ भेद हैं ह १. आलोचन, २. प्रतिक्रमण, ३. आलोचन-प्रतिक्रमण, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. परिहार, ९. उपस्थापना - ये नौ भेद हैं।

४. उत्सर्ग ह शरीर में ममत्व का त्याग करना, अन्तरंग परिग्रह इत्यादि कषायों का त्याग करना, संसार की वस्तु को अपनी नहीं मानना, इत्यादि अहंकार-ममकार का त्याग करना। किसी को अपना मानना कि "यह है वही मैं हूँ" अथवा किसी को ऐसा मानना "यह मेरा है, मैं इसका हूँ" इसप्रकार की अहंकार और ममकार बुद्धि का (स्वसन्मुखतारूप भेदज्ञान के द्वारा) त्याग करना, उत्सर्ग नामक अन्तरंग तप है।

इससे निष्परिग्रहपना, निर्भयपना प्रकट होता है, मोह का -नाश होता है; इत्यादि गुण प्रकट होते हैं।

५. **स्वाध्याय** ह्य अर्थात् ज्ञानभावना में आलस्य न करना। प्रथमानु-योग, चरणानुयोग, करणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग - इन चारों प्रकार के शास्त्रों का स्वाध्याय करना। जहाँ संशय हो अथवा श्रद्धान गाढ़ा करना हो, वहाँ दूसरे विशेष ज्ञानियों से पूछना।

जिसका श्रद्धान दृढ़ हो, उसका बार-बार मन में अभ्यास रखना अथवा चिन्तन करना, पाठ को शुद्धतापूर्वक बार-बार पढ़ना तथा धर्मार्थी-धर्म के लोभी भव्यजीवों को धर्मोपदेश देना, सीखना, सिखाना, विचारना, मनन करना इत्यादि स्वाध्याय नामक तप है।

इसके द्वारा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, अन्य जीवों को सम्यग्ज्ञान का बोध होता है, परिणाम स्थिर रहता है, संसार से वैराग्य होता है, धर्म की वृद्धि होती है - इत्यादि अनेक गुण प्रकट होते हैं; अतः स्वाध्याय करना चाहिए।

६. **ध्यान** ह्य एकाग्रचित्त होकर समस्त आरम्भ-परिग्रह से मुक्त होकर, पंचपरमेष्ठी और आत्मा का ध्यान करना, इसी को ध्यान कहते हैं।

वहाँ प्रशस्त रागपूर्वक अरिहन्तादि के चिन्तन में प्रवर्तन करना शुभध्यान है और केवल शुद्धात्मा में एकाग्र होना शुद्धध्यान है।

आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के भेद से ध्यान चार प्रकार का है। उनमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान तो संसार के कारण हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं।

ध्यान के सामान्यतया तीन भेद हो सकते हैं ह्य अशुभध्यान, शुभध्यान, और शुद्धध्यान। इनमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान, ये दोनों अशुभध्यान हैं, धर्मध्यान शुद्धतायुक्त शुभध्यान है तथा शुक्लध्यान शुद्धध्यान है।

इसलिए मोक्षार्थी जीवों को धर्मध्यान और शुक्लध्यान अवश्य अपनाना चाहिए।

ध्यान के अलवम्बनरूप से पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत - ये चार भेद हैं। इनका विशेष वर्णन ज्ञानार्णव ग्रन्थ से ज्ञात करना चाहिए, यहाँ लिखने से बहुत विस्तार हो जायेगा।

भावार्थ ह्य ध्यान तप से चारित्रभाव सम्पूर्णता को प्राप्त होता है, मन वशीभूत होता है, अनाकुलता होने से परमानन्द होता है। इसप्रकार छह भेद युक्त अन्तरंग तप सेवन करने योग्य है।

यह तप मन के आधीन है, इसलिए इसे अन्तरंग तप कहते हैं; अतः इसका निरन्तर सेवन करना योग्य है।

यहाँ यह बात भी जान लेना अत्यावश्यक है कि बाह्यतप और अन्तरंग तप में क्या अन्तर है?

बाह्यतप में केवल बाह्यपदार्थ तथा शरीर की क्रिया ही प्रधान कारण है और अन्तरंग तप में आत्मीय भाव तथा मन का अवलम्बन ही प्रधान कारण पड़ता है।

जैसे अग्नि सोने को शुद्ध बनाती है, वैसे ही यह दोनों प्रकार के तप आत्मा को शुद्ध बनाते हैं; कारण कि तप के बिना चारित्र नहीं होता और चारित्र के बिना कर्मों की निर्जरा नहीं होती। अतः दोनों प्रकार के तपों का आचरण अवश्य करना चाहिए। यहाँ तक गृहस्थ के व्रतों का वर्णन हुआ।

तप का स्वरूप समाप्त



(३)

सम्यक्चारित्र अधिकार ह्य २

मुनिधर्म का स्वरूप

अब श्री अमृतचन्द्रस्वामी मुनियों के चारित्र का वर्णन करते हैं। मुनिपद धारण किए बिना मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं होती।

इसलिए मोक्षार्थी भव्यात्माओं को जहाँ तक बन सके, वहाँ तक समस्त आरम्भ-परिग्रह का त्याग करके मुनिपद धारण कर, अष्टकर्मों का क्षय करके मुक्ति लक्ष्मी की प्राप्ति करनी चाहिए।

मुनिव्रत धारण करने का उपदेश ह्य

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।

सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि॥२००॥

अन्वयार्थ ह्य (जिनपुङ्गवप्रवचने) जिनेश्वर के सत्य सिद्धान्त में (मुनीश्वराणाम्) मुनीश्वर अर्थात् सकलव्रतधारियों का (यत्) जो (आचरणम्) आचरण (उक्तम्) कहा है, (एतत्) यह (अपि) भी गृहस्थों को (निजां) अपने (पदवीं) पद (च) और (शक्तिं) शक्ति को (सुनिरूप्य) भलीप्रकार विचार करके (निषेव्यम्) सेवन करना योग्य है।

टीका ह्य 'जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यत् आचरणम् उक्तम् एतत् अपि निजां पदवीं सुनिरूप्य शक्तिं च सुनिरूप्य निषेव्यम्।' ह्य

अर्हन्त भगवान् तथा गणधरादि में प्रमुख तीर्थंकर देव द्वारा कथित जिनशास्त्रों में जो मुनि-महात्माओं का सर्वदेश त्यागरूप आचरण कहा है, वह आचरण गृहस्थ को अपने पद की योग्यता और अपनी शक्ति को देखकर अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

भावार्थ ह्य जैसे मुनिराज मोक्षमार्ग को सर्वदेश प्राप्त हुए हैं, वैसे ही श्रावक भी मोक्षमार्ग में एकदेश प्रवर्तन करता है, इसलिए शास्त्र में जैसा-जैसा आचरण - क्रियाकाण्ड मुनियों का कहा है, वैसे ही श्रावक को भी अंगीकार करना चाहिए; परन्तु अपनी पदवी और शक्ति का विचार कर जैसी प्रतिमा का धारक हो, तदनुसार ही यथायोग्य आचरण करना योग्य है।

जहाँ तक बन सके, वहाँ तक प्रत्येक आत्मकल्याणार्थी को मुनिपद को स्वीकार करके अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहिए। यदि वह किसी भी तरह सर्वदेशव्रत का पूर्णरूपेण पालन न कर सके तो पहले अणुव्रत का पालन करना चाहिए, पश्चात् महाव्रत धारण करना चाहिए।

अब जो मुनीश्वरों का आचरण श्रावक को भी यथायोग्य अंगीकार करने के लिए कहा गया है, उसका वर्णन करते हैं।

प्रथम ही छह आवश्यकों का वर्णन करते हैं ह्य

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्।

प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम्॥२०१॥

अन्वयार्थ ह्य (समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणं) समता, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण (प्रत्याख्यानं) प्रत्याख्यान (च) और (वपुषो व्युत्सर्गः) कायोत्सर्ग (इति) इसप्रकार (इदम्) यह (आवश्यकषट्कं) छह आवश्यक (कर्त्तव्यम्) करना चाहिए।

टीका ह्य 'समता-स्तव-वन्दना-प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गः इति इदम् आवश्यकषट्कम्।' ह्य

१. समता- राग-द्वेष रहित साम्यभाव रखना, समस्त जीवों पर समताभाव रखना अर्थात् लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण में हर्ष-विषाद न करके समभाव रखना अथवा सामायिक करना।

योगसार दोहा-९९ में कहा है ह्य

सर्व जीव हैं ज्ञानमय, ऐसा जो समभाव।

वह सामायिक जिन कहें, प्रकट करत भवपार॥

२. स्तव ह्य श्री भगवान अर्हन्तदेव, तीर्थकर भगवान के गुणों का कीर्तन करना अर्थात् स्तुति करना। यह स्तव, व्यवहारस्तव और निश्चयस्तव के भेद से दो प्रकार का होता है।

३. वन्दना ह्य पंच परमेष्ठी को प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से साष्टांग नमस्कार करना।

४. प्रतिक्रमण ह्य प्रमाद आदि से अपने किये हुए दोषों का पश्चात्ताप करना अर्थात् अपने से कोई दोष या भूल हो जाये तो उसे अपने गुरु के समक्ष प्रकट करके उस भूल को स्वीकार कर लेना, यही प्रतिक्रमण है।

५. प्रत्याख्यान ह्य (आगामी आस्रव का निरोध) जो रत्नत्रय में विघ्न उत्पन्न करनेवाले हैं; उन्हें मन, वचन और काय से रोकना और उनका त्याग करना, प्रत्याख्यान कहलाता है। यह प्रत्याख्यान १. अखण्डित, २. साकार, ३. निराकार, ४. परिमाण, ५. इतरत् ६. वर्तनीपात, ७. सहेतुक इत्यादि भेद से दस प्रकार का है।

६. व्युत्सर्ग ह्य शरीर का ममत्व छोड़कर विशेष प्रकार के आसन पूर्वक ध्यान करना, यह व्युत्सर्ग नाम का आवश्यक है।

भावार्थ ह्य यह छह आवश्यक मुनि के आवश्यक कर्तव्य हैं; इनके बिना मुनिपद नहीं। जिनके समताभाव नहीं इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष भाव है, सो मुनि कैसे? मुनि के तो स्वर्ण और पाषाण समान है। सर्व जीवों के प्रति समताभाव है। अपने समान सब को जानते हैं और व्यवहारनय से पंच परमेष्ठी का पूजन, स्तवन, वंदना करते हैं।

वचन से बारम्बार अरहंत आदि की स्तुति करते हैं और मन से उनके गुणों का चिंतन करते हैं तथा मस्तक नमाकर बारम्बार वंदना करते हैं तथा भाव से इन्हीं में तल्लीन हैं, ये मुनिराज के मूलगुण हैं। जो पंच परमेष्ठी का भक्त नहीं, वह मुनि नहीं।

मुनि के दो ही मार्ग हैं ह्य एक शुभोपयोग और दूसरा शुद्धोपयोग।

शुद्धोपयोग में तो केवल निज स्वरूप ही का आराधन है और शुभोपयोग में पंच परमेष्ठी की भक्ति है। तप के द्वारा पूर्व उपार्जित कर्म की निर्जरा करते हैं, सो प्रतिक्रमण है। नवीन कर्मों का निरोध प्रत्याख्यान है। संवर ही का नाम प्रत्याख्यान है। देह से अनुराग त्यजना, निर्ममत्व रहना कायोत्सर्ग है। अथवा कायोत्सर्ग धारण करना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग को उत्सर्ग भी कहते हैं। ये छह आवश्यक साधु के आवश्यक कर्तव्य हैं। इसप्रकार छह आवश्यकों का वर्णन किया।

मुनि तथा श्रावक दोनों को इनका पालन प्रतिदिन अवश्य ही करना चाहिए। इसीलिए इन्हें आवश्यक कहा गया है; अतः मुनियों को उसका पालन सर्वदेश करना चाहिए। श्रावकों को अपनी योग्यतानुसार एकदेश पालन करना चाहिए।

मुनिराज को परिग्रह का पूर्ण त्याग होने के निमित्त से आत्मस्थिरता विशेष है और श्रावक को गृहस्थयोग परिग्रह के निमित्त से आत्मस्थिरता अल्प है। मुनिराज एवं श्रावक की श्रद्धा तो समान ही होती है।

तीन गुप्तियों का वर्णन करते हैं ह्य

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।

मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम् ॥२०२॥

अन्वयार्थ ह्य (वपुषः) शरीर को (सम्यग्दण्डः) भले प्रकार शास्त्रोक्त विधि से वश करना (तथा) तथा (वचनस्य) वचन का (सम्यग्दण्डः) भले प्रकार अवरोध करना (च) और (मनसः) मन का (सम्यग्दण्डः) सम्यक् रूप से निरोध करना - इसप्रकार (गुप्तीनां त्रितयम्) तीन गुप्तियों को (अवगम्यम्) जानना चाहिए।

टीका ह्य 'वपुषः सम्यग्दण्डः तथा वचनस्य सम्यग्दण्डः च मनसः सम्यग्दण्डः इति गुप्तीनां त्रितयम् अवगम्यम्' ह्य

शरीर को वश करना, वचन को वश करना और मन को वश करना - ये तीन गुप्तियाँ जाननी चाहिए।

भावाथ ह्नु गुप्ति का अर्थ गोपना अथवा छिपाना है। जैसे कि मन की क्रिया रोकना अर्थात् मन की चंचलता रोककर एकाग्रता कर लेना मनोगुप्ति है। वचन का न बोलना अर्थात् मौन धारण करना वचनगुप्ति है। शरीर की क्रिया रोकना निश्चल हो जाना कायगुप्ति है।

इन तीनों गुप्तियों में से मनोगुप्ति का पालन करना अति कठिन है। जहाँ तीनों गुप्ति हो जाती हैं, वहाँ आत्मध्यान होता है। गुप्ति ही मुनिपद का मूल है, इनके बिना सम्यक्चारित्र नहीं और चारित्र बिना मुक्ति नहीं।

पाँच समितियों का वर्णन करते हैं ह्नु

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।

सम्यग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः॥२०३॥

अन्वयार्थ ह्नु (सम्यग्गमनागमनं) सावधानी से देख-भालकर गमन और आगमन (सम्यग्भाषा) उत्तम हित-मितरूप वचन बोलना, (सम्यक् एषणा) योग्य आहार का ग्रहण, (सम्यग्रहनिक्षेपौ) पदार्थ का यत्नपूर्वक ग्रहण और यत्नपूर्वक क्षेपण करना (तथा) और (सम्यग्व्युत्सर्गः) प्रासुक भूमि देखकर मल-मूत्रादि का त्याग करना - (इति) इसप्रकार ये पाँच (समितिः) समितियाँ हैं।

टीका ह्नु 'सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथा सम्यक् एषणा च सम्यग्रहनिक्षेपौ सम्यक् व्युत्सर्गः इति (पञ्च) समितिः'। ह्नु

१. **ईर्यासमिति** ह्नु मुनिराज दिन के समय में ही सूर्योदय के दो घड़ी बाद जब सूर्य की किरणें स्पष्ट हो जायें और मार्ग प्रासुक हो जाये, तब यत्नाचारपूर्वक चार हाथ प्रमाण भूमि स्थूल दृष्टि से देखकर गमनागमन करें तथा पैरों को देख-देख कर रखें। जब मार्ग पर घोड़ागाड़ी, पथिक आदि चलने लगते हैं, तब वह सहज ही प्रासुक हो जाता है।

२. **भाषासमिति** ह्नु हित-मित और सन्देह रहित वचन बोलना कि जिससे सुननेवाले किसी भी प्राणी को दुःख न हो।

३. **एषणासमिति** ह्नु छियालीस दोष तथा बत्तीस अन्तराय टालकर उत्तम कुलीन श्रावक के घर आचार सहित विधिपूर्वक दिन में एक बार शुद्ध, प्रासुक, अनुदिष्ट आहार लेना।

४. **आदाननिक्षेपण समिति** ह्नु यत्नाचारपूर्वक देखकर सँभालकर पुस्तक, पीछी, कमण्डलादि उठाना तथा रखना।

५. **प्रतिष्ठापनसमिति** ह्नु यत्नपूर्वक से देखकर और पीछी से पोंछकर मल-मूत्र, कफ इत्यादि नव द्वार के मल प्रासुक (निर्जीव) भूमि पर त्याग करना।

जल में, गीली भूमि में, हरी घास में मल त्याग नहीं करना तथा लोगों के आने-जाने के मार्ग से दूर जाकर निर्दोष भूमि में मल क्षेपण करना। इसप्रकार समितियों का वर्णन किया।

ये पाँचों समितियाँ गुप्तियों के पालन में सहायक होती हैं। उपर्युक्त प्रकार से इनका पालन तो मुनिमहाराज ही करते हैं, फिर भी जितना बन सके, उतना श्रावक को भी इनका पालन करना चाहिए।

दयाभाव दोनों के जीवन में रहता है। पाँच समितियों का पालन करना मुनिव्रत का मूल है।

श्रावक को भी देख-भालकर चलना चाहिए। संक्षिप्त और हितकारी वचन बोलना चाहिए। शुद्ध प्रासुक आहार लेना चाहिए। सभी वस्तुएँ देख-भालकर उठाना-रखना चाहिए। जीव रहित स्थान में ही मल-मूत्रादि विसर्जन करना चाहिए। इसीप्रकार यथाशक्ति इन सबका श्रावकों को पालन करना चाहिए।

धर्म के दशलक्षणों का कथन करते हैं ह्नु

धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।

आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति॥२०४॥

अन्वयार्थ ह्नु (क्षान्ति) क्षमा, (मृदुत्वं) मार्दव, (ऋजुता) सरलता अर्थात् आर्जव (शौचम्) शौच (अथ) पश्चात् (सत्यम्) सत्य, (च) तथा (आकिञ्चन्यं) आकिञ्चन्य, (ब्रह्म) ब्रह्मचर्य (च) और (त्यागः) त्याग (च) और (तपः) तप (च) और (संयमः) संयमह्नु (इति) इसप्रकार (धर्मः) दश प्रकार का धर्म (सेव्यः) सेवन करना योग्य है।

टीका ह्र 'क्षान्तिः मृदुत्वं ऋजुता च शौचम् अथ सत्यम् आकिञ्चन्यं ब्रह्म च त्यागः च तपः च संयमः इति धर्मः सेव्यः।'ह्र

१. क्रोध का त्याग करके क्षमा धारण करना उत्तम क्षमा नाम का पहला धर्म है।
२. मान कषाय का त्याग करके कोमलता धारण करना उत्तम मार्दव नाम का दूसरा धर्म है।
३. मायाचार का (कपट का) त्याग करके सरलता धारण करना उत्तम आर्जव नाम का तीसरा धर्म है।
४. लोभ का त्याग करके सन्तोष धारण करना उत्तम शौच नाम का चौथा धर्म है। शौच का अर्थ शुद्धि है। यह शुद्धि दो प्रकार की है ह्र बाह्यशुद्धि, अन्तरंग शुद्धि। स्नानादि से शरीर को पवित्र रखना बाह्यशुद्धि है और लोभ कषाय का त्याग करना अन्तरंगशुद्धि है। इन दोनों प्रकार की शुद्धि ही शौचधर्म है।

यहाँ एक विचार करने योग्य बात यह है कि ये दोनों प्रकार की शुद्धियाँ गृहस्थ श्रावक की अपेक्षा से ही हैं, मुनि की अपेक्षा से नहीं हैं; कारण कि मुनिमहाराज के तो अन्तरंग शुद्धि की ही मुख्यता है।

५. दूसरे को दुःख उत्पन्न करनेवाला, निन्दनीय कपटी वचन नहीं बोलना, सत्य कहलाता है और यही पाँचवाँ उत्तमसत्य धर्म है।

६. पंचेन्द्रिय के विषयों को तथा मन के विषय को रोकना और छह काय के जीवों की हिंसा न करना, उसी को संयम कहते हैं। व्रतों को धारण करने से, समितियों का पालन करने से, कषायों का निग्रह करने से और मन-वचन-काय को वश में रखने से इस संयम का पालन होता है। यही छठवाँ उत्तम संयम धर्म है।

७. जिसतरह सोने का मैल दूर करने के लिए अग्नि का ताव दिया जाता है, उसीतरह आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों को दूर करने के लिए (सर्वज्ञ-वीतराग कथित) तप किया जाता है।

यह तप बारह प्रकार का है। 'इच्छानिरोधः तपः ह्र इच्छा का निरोध करना ही तप है। यह सातवाँ उत्तम तप धर्म है।

(इन बारह तपों में स्वाश्रय के बल द्वारा जितनी परिणामों की शुद्धि है, वह तो निर्जरा के कारणरूप निश्चय तप है और उसी समय हेयबुद्धि सहित व्रत-तपादि के शुभ विकल्प ह्र राग है, उतना व्यवहार अर्थात् उपचार तप है ह्र ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए।)

८. लोक में तो आहार, औषध, अभय और ज्ञानदान देने को त्यागधर्म कहते हैं; परन्तु यह त्याग वास्तविक सच्चा त्याग नहीं है।

(त्रैकालिक अकषाय ज्ञायकस्वभाव के आश्रय द्वारा वीतराग-विज्ञानरूप शान्ति की उत्पत्ति होना, उतने अंश में कषाय की उत्पत्ति न होना वही) क्रोधादि कषायों का त्याग करना है, वही सच्चा त्याग है।

इसलिए यद्यपि मुनिराज प्रत्यक्षरूप से कोई दान नहीं करते तो भी वास्तव में कषायों का त्याग करने के कारण वे ही सच्चे दानी हैं और जिससमय जिस जीव के लोभकषाय का त्याग हो गया, उसके बाह्य पदार्थों का तो त्याग हो ही गया; क्योंकि लोभकषाय छोड़े बिना बाह्य वस्तुओं का त्याग नहीं होता। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि (तत्त्वज्ञान के बल से) लोभादि कषायों का त्याग करना ही सच्चा उत्तम त्याग है और वही दान है।

९. ममत्वबुद्धि का त्याग करना आकिञ्चन्य धर्म है। चौदह प्रकार के अंतरंग तथा दश प्रकार के बाह्य परिग्रह - इन दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देना ही उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है।

१०. संसार के सर्व पदार्थों से मन की वृत्ति हटाकर केवल एक आत्मा में ही लीन करना अर्थात् ब्रह्म में तल्लीन होना उत्तम ब्रह्मचर्य है।

यह दशा तभी हो सकती है कि जब आत्मा पंचेन्द्रिय के विषयों को रोकने में समर्थ हो। विशेषतः स्पर्शनेन्द्रिय के विषय अर्थात् काम-

वासना को जीतने में समर्थ हो जाये; किन्तु उस काम-वासना का त्याग तभी हो सकता है, जब स्त्री मात्र का त्यागी हो जाये अर्थात् संसार की स्त्री मात्र का मन-वचन-काय से त्याग करे; परन्तु ऐसा त्याग तो केवल एक मुनिमहाराज ही कर सकते हैं।

श्रावक तो एकदेश त्याग कर सकता है अर्थात् स्वस्त्री में सन्तोष रखकर अपनी स्त्री के अलावा संसार की शेष समस्त स्त्रियों को माता, भगिनी अथवा पुत्री समान जानना, यही एकदेश ब्रह्मचर्य का पालन है।

भावार्थ ह्म इसप्रकार दशलक्षणधर्म का वर्णन किया। इन धर्मों का पालन करना प्रत्येक प्राणी का मुख्य कर्तव्य है; कारण कि ये ही दश धर्म मोक्षमार्ग का साधन करने के लिए मुख्य कारण हैं।

बारह भावनाओं का निरूपण करते हैं ह्म

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्त्रवो जन्म।

लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥२०५॥

अन्वयार्थ ह्म (अध्रुवम्) अध्रुव, (अशरणम्) अशरण (एकत्वम्) एकत्व, (अन्यता) अन्यत्व, (अशौचम्) अशुचि, (आस्त्रवः) आस्रव, (जन्म) संसार, (लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः) लोक, धर्म, बोधिदुर्लभ, संवर और निर्जरा - इन बारह भावनाओं का (सततम्) निरन्तर (अनुप्रेक्ष्याः) बार-बार चिन्तवन और मनन करना चाहिए।

टीका ह्म 'अध्रुवम् अशरणं जन्म एकत्वम् अन्यता अशौचम् आस्रवः संवरः निर्जराः लोकबोधिवृष (इति द्वादश अनुप्रेक्षाः) सततं भावनीयाः।' ह्म

१. अनित्य भावना ह्म संसार की समस्त वस्तुएँ शरीर, भोगादि सभी अनित्य - नाशवान हैं। आत्मा नित्य है, ध्रुव है। इसलिए अध्रुव वस्तु से प्रीति छोड़कर ध्रुव स्ववस्तु में चित्त लगाना, इसी को अनित्य भावना कहते हैं।

२. अशरणभावना ह्म इस जगत में कोई किसी को शरण नहीं है। सभी प्राणी काल के आधीन हैं। काल से बचाने वाला कोई नहीं है।

व्यवहारनय से चार शरण हैं - अर्हन्त की शरण, सिद्ध की शरण, साधु की शरण और जैनधर्म की शरण; परन्तु वास्तव में निश्चयनय से केवल अपना आत्मा ही शरण है, अन्य कोई नहीं। ऐसा (स्वसन्मुखता सहित) विचार निरन्तर करना ह्म यह दूसरी अशरण भावना है।

३. संसार भावना ह्म संसार बहुत दुःखरूप है, चारों गतियों में कहीं भी सुख नहीं है। नरकगति में तो प्रकटरूप छेदन, ताड़न, तापन, शूलारोपण आदि अनेक दुःख हैं। तिर्य्यचगति में भूख, प्यास, अतिभार लादना इत्यादि दुःख है। मनुष्यगति में भी अनेक चिन्तायें, बहुत खेद इत्यादि अनेक दुःख हैं। देवगति में भी विषय-वासना है, बड़े देवों की बड़ी ऋद्धि देखकर छोटे देव व्याकुल होते हैं। देवों की आयु दीर्घ तथा देवांगनाओं की आयु अल्प होने से उनके वियोग में देवों को अवश्य दुःख होता है।

मृत्यु के पूर्व छह महिने से गले की माला मुरझाने लगती है, तबसे उस देव को महामोहवश अत्यन्त खेद और दुःख होता है, इत्यादि प्रकार से देवगति में भी बहुत दुःख हैं।

सुख तो एक मात्र पंचमगति अर्थात् मोक्ष में है। (वहाँ निज आत्मा से ही उत्पन्न और अक्षय ऐसा अनन्तानन्त काल तक पूर्ण आनन्दमय अतीन्द्रिय सुख है।) अतः प्राणीमात्र को चतुर्गतिरूप संसार से उदासीन होकर पंचमगति को प्राप्त करने का उपाय करना चाहिए। ऐसा सदैव चिन्तवन करते रहना, वही तीसरी संसार भावना है।

४. एकत्व भावना ह्म यह आत्मा सदा अकेला ही है। जन्म में तथा मरण में सदा अकेला है, उसका कोई संगी-साथी नहीं है। यह सुख भोगने में अकेला, संसार भ्रमण करने में अकेला, मोक्ष प्राप्त करने में अकेला, अतः यह आत्मा त्रिकाल अकेला ही है। इसका कोई साथी नहीं है ह्म इसप्रकार निरन्तर विचार करना एकत्व भावना है।

५. **अन्यत्व भावना** ह्म संसार के जितने भी पदार्थ हैं, वे सब जुदे-जुदे हैं। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ में मिला हुआ नहीं है। (मिला हुआ नहीं था और कभी मिलेगा भी नहीं।) मन-वचन-काय ये सभी आत्मा से भिन्न हैं। जब यह शरीर, मन और वचन भी आत्मा से भिन्न हैं तो यह प्रकटरूप से भिन्न घर, मकान वगैरह एक कैसे हो सकते हैं?

अतः शरीरादि से निर्मोही बनकर, परभावों से अपना भिन्नत्व जानकर आप में ही लीन होना योग्य है। इसप्रकार वस्तुस्वरूप जानकर बार-बार चिन्तवन करना अन्यत्व भावना है।

६. **अशुचि भावना** ह्म यह शरीर सदैव नव द्वार से बहते हुए मल-मूत्र का खजाना महा अशुचिरूप है। आत्मा ज्ञानमय महा पवित्र है तो आत्मा का शरीरादि से सम्बन्ध किसप्रकार हो सकता है? इसतरह बार-बार चिन्तवन करना अशुचि भावना है।

७. **आस्त्रव भावना** ह्म एक नय के हठाग्रह को एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं। अधर्म को धर्म मानने को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। देव-कुदेव, सुगुरु-कुगुरु इन सब के विनय करने को विनय मिथ्यात्व कहते हैं। जिनेन्द्र कथित विषय में संदेह करने को संशय मिथ्यात्व कहते हैं। ज्ञान रहित अज्ञान की प्रवृत्ति एवं अयोग्य कार्य करने को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं। इसप्रकार पाँच प्रकार के मिथ्यात्व का कथन किया।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन कषाय के क्रोध, मान, माया एवं लोभ ह्म ये सोलह कषाय और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकदेव ह्म ये नौ नोकषाय ये सब मिलकर २५ कषाय हैं।

सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभयमनोयोग - ये चार मनोयोग और औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियकमिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्र काययोग, कार्माण काययोग - ये सात काययोग हैं,

इसप्रकार १५ योग है। ५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कषाय, १५ योग ह्म ये आस्रव के ५७ भेद हैं। उनके द्वारा यह जीव हमेशा कर्मों का आस्रव किया करता है।

शुद्ध भावरूप संवर के द्वारा जब तक उन आस्रवों का त्याग न हो, तब तक यह जीव संसार से छूट नहीं सकता। अर्थात् जीव को यह आस्रव ही दुःखदायक है, ऐसा (स्वसन्मुखता सहित) बारम्बार चिन्तवन करना, उसे आस्रव भावना कहते हैं।

८. **संवर भावना** ह्म (स्वसन्मुखतारूप शुद्धि के द्वारा ही) कर्मों के आगमन को रोकना ही संवर है। यही संसार से छुड़ानेवाला और मोक्ष ले जानेवाला है। पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह, पाँच प्रकार का चारित्र - ये सभी संवर के कारण हैं। सभी प्राणियों को इन सर्व कारणों को धारण करके संवर की प्राप्ति करनी चाहिए।

संवर-निर्जरा, मोक्ष के मूल हैं। ऐसा बार-बार चिन्तवन करना ही संवर भावना है।

९. **निर्जरा भावना** ह्म (सर्वज्ञ-वीतराग कथित) तप के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का एकदेश क्षय करना निर्जरा है। यह निर्जरा दो प्रकार की है ह्म सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

सविपाक निर्जरा तो सर्व संसारी जीवों के सदैव हुआ ही करती है, जिसमें पूर्व बद्ध कर्म फल देकर खिरते हैं और नवीन कर्मों का बन्ध होता है।

अविपाक निर्जरा तो सम्यग्दृष्टि जीवों को शुद्धभावरूपी तप आदि करने से ही होती है। अविपाक निर्जरा के बिना यह जीव संसार से मुक्त हो नहीं सकता; क्योंकि इसमें पूर्व बद्ध कर्म खिरते हैं तथा नवीन कर्म बँधते नहीं हैं।

अतः मोक्षार्थी जीवों को यह अविपाक निर्जरा अवश्य करनी चाहिए। इसप्रकार बार-बार चिन्तवन करना ही निर्जरा भावना कहलाती है।

१०. लोक भावना हू इस लोक के तीन भाग हैं हू ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। ये तीनों लोक तीन सौ तेतालीस राजू घनाकार, चौदह राजू ऊँचा किसी के द्वारा बनाया नहीं गया हैं और कभी इसका नाश नहीं होगा। अतः यह लोक अनादि निधन, स्वयंसिद्ध, अविनाशी है।

अनन्तानन्त आकाश में उसका अनन्तवाँ भाग लोकाकाश है; वह षट् द्रव्यात्मक है। अधोलोक में तो सातवें नरक के नीचे एक राजू पर्यन्त स्थावर ही हैं। वहाँ त्रसराशि नहीं है तथा शेष छह राजू में सात नरक हैं। उनमें रहनेवाले नारकी महादुःखी हैं। इन नरकों के ऊपर भवनवासी तथा व्यन्तर देव हैं। यह अधोलोक की संक्षिप्त रचना बताई।

अधोलोक में सूक्ष्मस्थावर तो सर्वत्र हैं तथा बादरस्थावर किसी के आधार से हैं। त्रस जीवों में निचले स्थान में नारकी और ऊपर के स्थान में भवनवासी तथा व्यन्तर हैं, अन्य किसी जाति के त्रस जीव नहीं हैं।

मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। उनमें ढाई द्वीप और समुद्र, मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्यलोक है, उसके आगे मनुष्य का संचार नहीं है।

व्यन्तर, भवनवासी, ज्योतिषी - ये तीन प्रकार के देव और तिर्यच सब मध्यलोक में हैं। जलचर पंचेन्द्रिय तथा विकलत्रय तो ढाई द्वीप तथा अन्त का स्वयंभूरमण द्वीप आधा पहली तरफ का और अन्त का स्वयंभूरमणसमुद्र सारा इनमें है। शेष असंख्यात द्वीप-समुद्रों में विकलत्रय नहीं है। जलचर जीव लवणोदधि, कालोदधि और स्वयंभूरमण - इन तीन ही समुद्रों में हैं; अन्य स्थानों में नहीं हैं।

इस मध्यलोक में अनेक प्रकार की रचनायें हैं, उनका विस्तार कहाँ तक कहा जाये। मध्यलोक सुमेरुपर्वत के शिखर पर्यन्त एक लाख योजन ऊँचा है। ज्योतिषचक्र सात सौ नब्बे योजन से लेकर नौ सौ योजन तक है।

मध्यलोक के ऊपर स्वर्गलोक है; वहाँ सोलह स्वर्ग, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पंच अनुत्तर हैं। नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पंच अनुत्तर में अहमिन्द्र हैं। वहाँ देवियाँ नहीं हैं, सभी देव ब्रह्मचारी हैं। स्वर्गलोक में स्वर्गवासी देव तथा पाँच स्थावर ही हैं, अन्य त्रसजीव नहीं हैं।

पंच अनुत्तर के मध्य सर्वार्थसिद्धि है, जिसके समान संसार में और कोई दूसरा स्थान नहीं है। इसी सर्वार्थसिद्धि के ऊपर सिद्धलोक है, जहाँ अनन्तानन्त सिद्ध विराजमान हैं, अजर-अमर अविनाशी हैं।

ऐसे लोक के स्वभाव का विचार कर आत्म-स्वरूप में मग्न होना तथा विभावों से विरक्त होना ही श्रेष्ठ है।

इस सारे लोक में यह संसारी जीव अनादिकाल से इन तीनों लोक में अपनी भूल से भ्रमण कर रहा है। उसे महान अपरिमित दुःख है, अंशमात्र भी सुख नहीं है।

सुख का धाम तो सिद्धलोक है। सब लोक का आभूषण शुद्ध आत्मा ही सार है, शेष सर्व असार है। ऐसे चार गतिरूप लोक-स्वरूप का विचारकर आत्मस्वरूप में मग्न होना तथा विभावों से विरक्त होना। इन चार गतिरूप लोक का निवास कब टूटे? ऐसा बारम्बार विचार करना, उसे ही लोक भावना कहते हैं।

११. बोधिदुर्लभ भावना हू संसार में निगोदराशि से व्यवहाराशि में आना दुर्लभ है। फिर एकेन्द्रिय जीव, पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय, वायुकाय तथा प्रत्येक वनस्पतिकाय से निकलकर त्रसकाय में आना दुर्लभ है। उसमें भी दो इन्द्रियों से तीन इन्द्रिय होना दुर्लभ है। तीन इन्द्रिय से चार इन्द्रिय होना दुर्लभ है, चार इन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ है। असैनी से सैनी पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ है। पंचेन्द्रिय तिर्यच से मनुष्य होना अति दुर्लभ है।

मनुष्य में भी आर्यखण्ड, उत्तम कुल, दीर्घायु, धर्मबुद्धि पाना अत्यन्त दुर्लभ है। पश्चात् सम्यक्त्व की प्राप्ति और श्रावक के व्रत अति दुर्लभ हैं। श्रावक के व्रत से मुनि के व्रत धारण करना अत्यन्त दुर्लभ है तथा मुनिव्रत में भी शुभोपयोग की अपेक्षा शुद्धोपयोग की दशा प्राप्त करना महान-महान दुर्लभ है।

इस जीव ने संसार में देवों की ऋद्धि और राजाओं की ऋद्धि तो अनेक बार पायी; परन्तु रत्नत्रयरूप निजनिधि की प्राप्ति आज तक नहीं हुई। इसलिए निजस्वरूप की प्राप्ति महा दुर्लभ है।

संसार में सभी वस्तुएँ सुलभ हैं अर्थात् शीघ्र ही प्राप्त हो सकती हैं; परन्तु केवलज्ञान का प्राप्त करना परम दुर्लभ है। केवलज्ञान के बिना इस जीव को मोक्ष नहीं मिल सकता। इसलिए प्रत्येक प्राणी को उस केवलज्ञान की प्राप्ति करने में तत्पर और प्रयत्नशील होना चाहिए।

जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी, तब तक यह आत्मा संसार में भ्रमण करता ही रहेगा। इसलिए हे आत्मा ! यदि तुझे वास्तविक सुख की प्राप्ति करनी हो तो तू शीघ्र ही चार घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर। इस प्रकार स्वसन्मुखता सहित बारम्बार चिन्तन करना बोधि-दुर्लभ भावना है।

दुर्लभ पर को भाव, जाकी प्राप्ति होय ना।

जो अप्पनो स्वभाव, मोकु दुर्लभ नाहीं ॥

भावार्थ ह्व अपना स्वभाव तो अपने में ही है, कहीं से लाना नहीं है; इसलिए दुर्लभ क्यों मानिए? पर वस्तु की प्राप्ति करना अपने वश नहीं, इसलिए दुर्लभ है।

धर्म भावना ह्व वास्तव में जीव को सुख देनेवाली वस्तु एक धर्म ही है; क्योंकि धर्म नाम स्वभाव का है। प्रत्येक वस्तु का जो स्वभाव है, वही उसका धर्म है। (जीव वस्तु का स्वभाव चैतन्य है, वही परम धर्म है) जब यह द्रव्य अपने स्वभाव में परिणमन करता है, तभी यह सुखी और शुद्ध कहलाता है।

आत्मा का जो यह ज्ञानगुण है, वही उसका धर्म है। जब तक यह आत्मा अपने ज्ञानधर्म अथवा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयधर्म का पूर्ण विकास नहीं करता, तब तक इस संसार बन्धन से नहीं छूट सकता।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि भी आत्मा के दश धर्म हैं तथा जीवदया भी आत्मा का धर्म है। यद्यपि यह धर्म प्रत्येक संसारी आत्मा में विराजमान है तो भी जब तक आत्मा में इनका विकास न हो, तब तक यह आत्मा संसाररूपी जेल से छूट नहीं सकता अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना धर्मभावना है।

इस प्रकार बारह भावनाओं का वर्णन किया। ये बारह भावनायें वैराग्य की जननी हैं, क्योंकि संसार से वैराग्य उत्पन्न करने में ये प्रधान सहायक हैं।

इन बारह भावनाओं का चिन्तन करने से वैराग्य की पुष्टि होती है, अतः इनका सदैव चिन्तन करो।

धर्म के समान कोई मित्र नहीं और पाप के समान कोई शत्रु नहीं है। धर्म ही सार है। धर्म ही जीव को संसार (दुःख) से निकालता है। श्री तीर्थकर देव आदि महापुरुष गृहस्थजीवन में इन्हीं का विचार करते हैं।

बाईस परीषहों का वर्णन करते हैं ह्व

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।

दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम् ॥२०६॥

स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।

सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधो निषट्टा स्त्री ॥२०७॥

द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम्।

संकलेशमुक्तमनसा संकलेशनिमित्तभीतेन ॥२०८॥

अन्वयार्थ ह्व (संकलेशमुक्तमनसा) संकलेश रहित चित्तवाला और (संकलेशनिमित्तभीतेन) संकलेश के निमित्त से अर्थात् संसार से भयभीत साधु को (सततम्) निरन्तर (क्षुत्) क्षुधा, (तृष्णा) तृषा, (हिमम्)

शीत, (उष्णम्) उष्ण, (नग्नत्वं) नग्नपना, (याचना) प्रार्थना, (अरतिः) अरति, (अलाभः) अलाभ, (मशकादीनां दंशः) मच्छरादि का काटना, (आक्रोशः) कुवचन, (व्याधिदुःखम्) रोग का दुःख (अङ्गमलम्) शरीर का मल, (तृणादीनां स्पर्शः) तृणादिक का स्पर्श, (अज्ञानम्) अज्ञान, (अदर्शनम्) अदर्शन, (तथा) इसी प्रकार (प्रज्ञा) प्रज्ञा (सत्कारपुरस्कारः) सत्कार-पुरस्कार (शय्या) शयन, (चर्या) गमन, (वधः) वध, (निषद्या) आसन (च) और (स्त्री) स्त्री (एते) ये (द्वाविंशतिः) बाईस (परीषहाः) परीषह (अपि) भी (परिषोढव्याः) सहन करने योग्य हैं।

टीका ह् 'क्षुत् तृष्णा हिमम् उष्णं नग्नत्वं याचना अरतिः अलाभः मशकादीनां दंशः आक्रोशः व्याधिदुःखम् अङ्गमलम् तृणादीनां स्पर्शः अज्ञानम् अदर्शनं तथा प्रज्ञा सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधः निषद्या स्त्री - एते द्वाविंशतिः अपि परीषहाः संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन सततं परिषोढव्याः ।'ह

भूख, प्यास, सर्दी, गरमी, नग्नपना, याचना, अरति, अलाभ, मच्छरादि का काटना, निन्दा, रोग का दुःख, शरीर का मल, कंटक - काँटा आदि लगना, अज्ञान, अदर्शन, प्रज्ञा, सत्कारपुरस्कार, शयन, चलना, वध, निषद्या (निवास-आसन) और स्त्री - इन बाईस परीषहों को मुनिराज संक्लेश दूर करके और संक्लेशभाव से भयभीत होकर सदा सहन करते हैं।

अब बाईस परीषह का संक्षिप्त वर्णन करते हैं ह

१. **क्षुधा परीषह** ह् भूख के वशीभूत होकर सब जीव बहुत दुःख पाते हैं; परन्तु मुनिराज को जब क्षुधा वेदना होती है, तब ऐसा विचार करते हैं कि हे जीव ! तूने अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक प्रकार की अनन्त पुद्गलराशि का भक्षण किया है, तब भी तेरी क्षुधा शान्त नहीं हुई।

अरे ! नरकगति में भी अत्यन्त क्षुधा सहन की। अभी तू इस समय मोक्ष की प्राप्ति के लिए तैयार हो गया है। तेरा यह शरीर तो यहीं पड़ा रहा जायेगा।

अतः शान्त, ज्ञानानन्द स्वरूप में लीनता करके भूख का नाश कर; जिससे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाये। इसप्रकार के भावों द्वारा साधुगण क्षुधा परीषह को सहन करते हैं।

२. **तृषा परीषह** ह् सभी जीव प्यास से बहुत दुःखी होते हैं। मुनिराज ग्रीष्म ऋतु में पर्वत के शिखर पर रहते हैं। वहाँ अनेक उपवास धारण करने के कारण उन्हें तृषा की बाधा उत्पन्न होती है। फिर भी वह धीर-वीर साधु इसप्रकार की भावना करके मन में समाधान लाते हैं कि हे जीव ! तूने इस संसार में भटकते हुए सारे जगत का जल पी लिया तो भी तेरी प्यास आजतक शान्त नहीं हुई।

अरे ! नरकगति में ऐसी तृषा उत्पन्न हुई जो समुद्रों का जल पीने पर भी न मिटे; परन्तु वहाँ एक बूँद मात्र भी जल प्राप्त नहीं हुआ तथा तिर्यञ्चगति में अति तृषा सहन की और मनुष्यगति में तृषा-वेदना सहन करनी पड़ी।

हे जीव ! तूने जगत-वन्द्य मुनिपद धारण किया है, इसलिए इस तृषा परीषह को सहन करते हुए आत्मध्यान में लग; जिससे यह तृषा सदा के लिए मिट जाये। इसप्रकार तृषा परीषह मुनिराज सहन करते हैं और संयम से विचलित नहीं होते - यही तृषा परीषहजय है।

३. **शीत परीषह** ह् शीत के कारण संसार के प्राणी अति दुःखी होते हैं। हरे-भरे वृक्ष भी हिमपात के कारण दग्ध हो जाते हैं। ऐसे पौष-माघ की भयंकर शीत में महाधीर नग्नशरीरी मुनिराज, नदी अथवा सरोवर के किनारे कायोत्सर्ग या पद्मासन धारण करके ध्यान करते हैं। उससमय शीत की बाधा होने पर भी वह खेद नहीं करते; अपितु ऐसा

विचार करते हैं कि हे जीव ! तूने अनादिकाल से अनन्त बार छठवें-सातवें नरक में महा शीत वेदना सहन की है तथा पशुगति और मनुष्यगति में भी अत्यधिक महान शीत (ठण्ड) सहन की है।

यद्यपि तूने उसे दूर करने के लिए अनेकानेक उपाय किये हैं तो भी आज तक तेरी ठण्ड मिटी नहीं है। अब तूने मुनिव्रत धारण किया है, इसी पद से मोक्ष की प्राप्ति होगी।

अतः हे जीव ! तूने इस शीत परीषह को सम्यक् प्रकार से सहन कर। ऐसा चिन्तवन - विचार करके आत्मध्यान में लीन होना - यही शीत परीषहजय कहा जाता है।

४. उष्ण परीषह ह्य ग्रीष्म ऋतु में सूर्य बहुत तप्तायमान होता है। सारे जगत के प्राणी गरमी की पीड़ा से महा व्याकुल हो जाते हैं। नदी-सरोवरों का जल सूख जाता है। उस समय मुनिराज पर्वत के शिखर पर पत्थर की शिला पर बैठकर सूर्य के सन्मुख मुख करके आतापन योग धारण करते हैं। तथा ऐसा विचार करते हैं कि हे आत्मन्। नरकगति में बहुत गरमी सहन की है तो अब यहाँ गरमी है ही कितनी?

इस समय तूने मुनिव्रत धारण किया है। अतः आत्मानन्दरूपी अमृत से तृप्त होकर इतनी तुच्छ धूप की बाधा आनन्द से सहन कर। इसतरह चिन्तवन करके उष्ण परीषह सुखपूर्वक जीतते हैं। इसे ही उष्ण परीषहजय कहते हैं।

५. नग्न परीषह ह्य नग्न मुद्राधारी महा अविकारी मुनि भयंकर वन में एकाकी रहते हैं। सूत के वस्त्र, रेशमी वस्त्र, टाट के वस्त्र, सण के वस्त्र तथा घास आदि के सकल प्रकार के वस्त्रों का त्याग करते हैं। चर्म, रोम तथा वृक्षों के वल्कलादि कुछ भी नहीं रखते। जिनके दशों दिशायें ही वस्त्र हैं, उन्हें और क्या चाहिए?

ऐसे दिगम्बर मुनिराज अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने आत्मध्यान में लीन रहते हैं। नग्न रहने से रंचमात्र भी दुख नहीं मानते, हमेशा अपने आत्मा में लीन रहते हैं - इसी को नग्न परीषहजय कहते हैं।

६. याचना परीषह ह्य याचना से सभी संसारी जीव दुखी हो रहे हैं, दूसरों की क्या कहें; इन्द्र, चक्रवर्ती सरीखे भी अभिलाषा से रंक हो रहे हैं; परन्तु अयाचक व्रतधारी मुनिराज किसी से भी कुछ माँगते नहीं।

अरे! जिन्हें तीर्थंकर जिनराज से भी मोक्षरूपी लक्ष्मी नहीं माँगनी, वह भला अन्य किसी से और कोई वस्तु क्या माँगे? याचना समान जगत में अन्य न्यूनता नहीं और अयाचकव्रत समान त्रैलोक्य में अन्य उत्कृष्टता नहीं। मुनिव्रत का मूल अयाचीवृत्ति है, स्नान, भोजन, धर्मोपकरणादि कुछ भी किसी से नहीं माँगते, महा निरभिलाषी रहते हैं।

मुनिराज को भले ही हप्तों, महिनों, वर्षों तक आहार न मिले तो भी कभी किसी श्रावक से आहार की याचना नहीं करते, इसलिए मुनि की वृत्ति को सिंहवृत्ति कहते हैं - इसप्रकार याचना परीषह को जीतते हैं।

७. अरति परीषह ह्य जगत के जीव इष्ट पदार्थों के प्राप्त होने पर रति मानते हैं और अनिष्ट पदार्थों के प्राप्त होने पर अरति ह्य खेद मानते हैं; किन्तु मुनिराज चाहे जंगल में रहें, कोई उनको भला-बुरा कहे तो भी कदापि रति-अरति नहीं मानते।

जिनके महल और भयंकर वन, शत्रु और मित्र, कनक और पाषाण, स्तुति और निन्दा, सुख और दुःख जीवन और मरण सर्व समान हैं अर्थात् अपने चित्त में सदैव समता धारण करनेवाले साधु अरति परीषह जीतते हैं।

८. अलाभ परीषह ह्य साधु ने अनेक उपवास किये हों और यदि पारणा के दिन निर्दोष आहार का लाभ न हो तो चित्त में रंचमात्र खेद नहीं मानते। इसप्रकार जो यतीश्वर लाभ-अलाभ दोनों को समान मानते हैं, वे ही अलाभ परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

९. दंशमशक परीषह ह्य डांस, मच्छर, चींटी, मकोड़ा आदि जीवों के डंक की पीड़ा जगत के प्राणी सहन नहीं कर पाते; परन्तु योगीश्वर उन सबकी बाधा - पीड़ा सहन करते हैं। काटनेवाले सभी प्राणियों द्वारा अपने नग्न शरीर में बहुत बाधा - पीड़ा उत्पन्न किये जाने पर भी वे मुनि महाराज कभी भी मन में खेद नहीं करते। इसतरह दंशमशक परीषह जीतते हैं।

१०. आक्रोश परीषह ह्व जो कोई दिगम्बर मुनि को देखकर निन्दा करते हैं, दुर्वचन कहते हैं, गाली देते हैं; परन्तु ऐसे निष्ठुर वचन सुनकर किञ्चित्मात्र खेद नहीं करते; परन्तु उत्तम क्षमा ही धारण करते हैं - इसप्रकार मुनिराज आक्रोश परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

११. रोग परीषह ह्व पूर्वोपार्जित असातावेदनीय कर्म के उदय से शरीर में पीड़ा हो जाये तो मुनि महाराज उस रोग से दुःखी नहीं होते। रोग हो जाने पर लौकिकजन अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं; परन्तु मुनि- राज अपने शरीर में इन रोगों के उपस्थित होने पर किसीप्रकार का खेद चित्त में नहीं आने देते और न उन रोगों के प्रतिकार का कोई उपाय करते हैं। वह तो पूर्वकृत कर्मों का फल जानकर अत्यन्त निश्चलतापूर्वक आत्मध्यान में लीन रहते हैं - इसे रोग परीषहजय कहते हैं।

१२. मल परीषह ह्व (अपने त्रैकालिक निर्मल ज्ञानानन्दमय स्वरूप के आलम्बन में ही सावधान होने से) मुनिराज के तो जीवन पर्यन्त स्नान और विलेपन का त्याग होता है। ग्रीष्म ऋतु में धूप में रहने के कारण पसीने से शरीर में धूल आकर जम जाती है। नग्न शरीर मलिन दिखाई पड़ता है तो भी संयमी साधु का इस शरीर के प्रति ध्यान नहीं जाता; क्योंकि वे अपने आत्मगुणों में ही लीन रहा करते हैं, उसे ही मल परीषहजय कहते हैं। वे ऐसी भावना भाते हैं कि हे जीव ! यह शरीर तो स्वभाव से ही महा मलिन है, इसे तो समुद्र के जल से धोया जाये तो भी पवित्र नहीं हो सकता।

तू तो परम पवित्र आत्मा है। अतः इस शरीर की मलिनता से तू कैसे मलिन हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। कारण कि अमूर्तिक पदार्थ को मल का संसर्ग - स्पर्श ही नहीं हो सकता।

इसलिए हे आत्मन् ! तू इस देह का स्नेह त्यागकर अपने शुद्धभावों में लीन - स्थिर हो जा। यह विचार करके मुनि मल परीषह सहते हैं।

१३. तृणस्पर्श ह्व जगवासी जीवों के शरीर में यदि एक फाँस भी लग जाये तो बेचैन हो जाते हैं। परन्तु जीवों की रक्षा करने में तत्पर; संयमधन के धनी योगीन्द्र के शरीर में चलते अथवा बैठते समय तृण, कंकड़, कण्टक, फाँस इत्यादि चुभ जाये तो उनको निकाल कर फेंकने का कुछ भी उपाय नहीं करते; अपितु निर्व्याकुल होकर निज स्वरूप में ही लीन रहते हैं ह्व यह तृणस्पर्श परीषहजय है।

१४. अज्ञान परीषह ह्व संसारी समस्त प्राणी अज्ञानवश दुःखी हो रहे हैं, निज स्वरूप का ज्ञान नहीं है। यदि कदाचित् पढ़ने का अभ्यास करें और शब्दार्थ का लाभ न हो तो मन में खेद करते हैं और पठन से अरुचि करने लगते हैं; परन्तु महामुनिराज को पूर्वोपार्जित ज्ञानावरण कर्म के उदय से पठन-पाठन का उद्यम करने पर तथा अनेक वर्षों तक महान तप करने पर भी यदि श्रुत का पूर्ण ज्ञान नहीं होता अथवा अवधि, मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता तो भी वे खेद नहीं करते। अपने नित्यानन्दस्वरूप में ही सन्तोष धारण करते हैं, उसे अज्ञान परीषहजय कहते हैं।

ऐसा विकल्प नहीं करते कि देखो, मुझे तप करते हुए इतना दीर्घकाल व्यतीत हो गया फिर भी मुझे ज्ञान की वृद्धि नहीं हुई।

यदि मूढ़ पुरुष उन्हें देखकर कहे कि यह साधु कितना अज्ञानी है तो भी वे उसके वचनों से खेदखिन्न नहीं होते अथवा यदि ज्ञान की वृद्धि हो जाये तो उस ज्ञान का कभी गर्व नहीं करते। ऐसे यतीश्वर अज्ञान परीषह के जीतनेवाले कहे जाते हैं।

१५. अदर्शन परीषह ह्व जगत के जीव समस्त कार्य अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए करते हैं। यदि पुरुषार्थ के करने पर भी प्रयोजन की सिद्धि न हो अथवा उसमें कुछ न्यूनता रह जाये तो क्लेश मानते हैं। परन्तु वे मुनिराज ऐसा विचार नहीं करते कि मैं बाल-अवस्था से ही महाव्रतादि धारण कर रहा हूँ और चिरकाल तक उग्रोग्र तप करने के बाद भी किसी ऋद्धि आदि अतिशय की प्राप्ति नहीं हुई।

ऐसा विचार भी कदापि नहीं करते कि मुझे स्वाध्याय और तप करते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया। कषायों पर भी मैंने विजय प्राप्त कर ली है। संयम का भी निरतिचार पालन कर रहा हूँ। फिर भी मुझे अब तक कोई ऋद्धि उत्पन्न नहीं हुई और न कोई ज्ञानातिशय ही प्राप्त हुआ। न मालूम इस तप-संयम का कोई फल दिखाई देगा भी या नहीं?

इसप्रकार का कोई संशय या विकल्प करके मुनिराज सम्यग्दर्शन में दोष नहीं लगाते और तप-संयम में अचल रहते हैं - इसे अदर्शन परीषहजय कहते हैं।

१६. प्रज्ञा परीषह हूँ लौकिक जन थोड़ा भी ज्ञान हो जाने पर उसका अति गर्व करने लग जाते हैं और मन में ऐसा विचारने लगते हैं कि मेरे समान कोई बुद्धिमान नहीं है; किन्तु महामुनिराज को शब्द, अर्थ, छन्द, न्याय, अलंकारादि द्वादशांग का पूर्ण ज्ञान है। अथवा अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान है तो भी रंचमात्र गर्व नहीं करते और बुद्धि की मन्दता होने पर खेद नहीं करते। यदि कोई व्यक्ति उन्हें बुद्धिहीन बताये तो उससे द्वेषभाव नहीं रखते - ऐसे योगी ही प्रज्ञा परीषह सहनशील होते हैं।

१७. सत्कार-पुरस्कार परीषह हूँ देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, संसार के सभी जीव आदर-सत्कार से हर्षित होते हैं। सत्कार करनेवाले के प्रति मैत्रीभाव रखते हैं तथा अनादर करनेवाले के प्रति शत्रुता रखते हैं।

इसप्रकार निरन्तर राग-द्वेषरूप परिणमन करते हैं; किन्तु वीतरागता के धारक यतीश्वर, इन्द्र और चक्रवर्ती आदि के द्वारा पूजा-स्तुति किये जाने पर अथवा किसी अविवेकी जन के द्वारा निन्दा किये जाने पर किसी से राग-द्वेष नहीं करते; अपितु समताभाव धारण करते हुए मन में ऐसा विचार करते हैं - हे जीव! तू तो दृष्टि-अगोचर वचन अगोचर अमूर्तिक पदार्थ है, उसका कोई सत्कार अथवा स्तुति-भला कैसे कर सकता है?

यह शरीर पदार्थ तो मैथुन से उत्पन्न मल-मूत्र का भाजन है, वह भला स्तुति योग्य कैसे हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता। इसलिए स्तुति और निन्दा से हर्ष-विषाद मानना व्यर्थ है।

इसप्रकार जो मुनिराज किसी के पास से आदर-सम्मान की इच्छा नहीं करते और अनादर से खेद-खिन्न नहीं होते, वे ही सत्कार-पुरस्कार परीषह विजयी होते हैं।

१८. शय्या परीषह हूँ जगत के जीव विषयाभिलाषी होकर कोमल शय्या पर सोने का अनुराग रखते हैं; परन्तु योगीश्वर मुनिराज स्वर्ण-रत्नादिक के महल तथा सुन्दर शय्यादिक का त्यागकर वनवासी होकर कंकरीली विषमभूमि में रात्रि के पिछले पहर में एकासन से थोड़ी-सी निद्रा लेते हैं। वहाँ अपने क्षीण शरीर में कंकड़ आदि चुभते हैं, उनसे दुखी नहीं होते; परन्तु ऐसी भावना भाते हैं कि हे जीव ! तूने नरक की तीव्र वेदना अनन्त बार सहन की है, उसके समान अन्य कोई विषम भूमि नहीं है। यह भूमि तो कुछ भी विषम नहीं है कि जिसका तू व्यर्थ में खेद करता है।

अब तो तूने त्रैलोक्य पूज्य जिनमुद्रा धारण की है। तू मोक्षार्थी ही है और इस भवसमुद्र से पार होकर निर्वाण द्वीप को जाना चाहता है। अतः मोहरूपी निद्रा को जीतकर योग में आरूढ़ हो। सदा जागृत रहकर अपने स्वरूप में मग्न हो। शय्या परीषह की बाधा से चित्त में अस्थिरता मत आने दे। इसतरह विचारते हुए मुनिराज शय्या परीषह सहन करते हैं हूँ यह शय्या परीषह का जीतना है।

१९. चर्या परीषह हूँ संसारी जीव हाथी, घोड़ा, रथ, पालकी आदि सवारी पर सुहावने समय में भी चढ़कर गमन करने में खेद मानते हैं तथा तिर्यञ्च भी गमन करने में दुःखी होते हैं, परन्तु मुनिमहाराज चलते समय ईर्यापथ शोधते हुए चलते हैं।

ग्रीष्मऋतु में दशों दिशाये तप्तायमान हो जाती हैं और मार्ग में कंकड़, पत्थर कण्टकादि चुभते हैं तो भी किञ्चित् खेद नहीं मानते। इसप्रकार महामुनिराज चर्या परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

२०. वध परीषह ह्य भववासी जीव मारने-पीटने से सदैव भयभीत होते हैं। यदि कोई उन पर उपद्रव करे तो उससे द्वेष करके अति तीव्र कषाय धारण करते हैं। परन्तु मुनिराज को कोई पापी जीव बाँधे अथवा दण्ड, पाषाणादि से मारे और नाना प्रकार का उपसर्ग करके महान कष्ट पहुँचावे तो भी वे उससे रञ्चमात्र भी द्वेष नहीं करते, समताभाव ही रखते हैं। ऐसा विचार करते हैं कि मेरा आत्मा तो अमूर्तिक है, अविनाशी, चिदानन्दमय है, उसे दुःख कौन दे सकता है? कौन मार सकता है? कौन पीट सकता है? मैं तो ज्ञानानन्द स्वरूप ही हूँ। इसप्रकार मुनिराज वध परीषह जीतते हैं।

२१. निषद्या परीषह ह्य संसार के समस्त जीव उत्तम मनोज्ञ स्थान में बैठकर सुख मानते हैं; परन्तु (मुनिराज पहले राज्यादिक पदवी में कंचन रत्नादिक के महलों में विलास करते थे, उन्होंने अब स्वरूप को पहचानकर निश्चय से अपना स्थान अपने में ही जान लिया है।) मुनिराज सकल परिग्रह का त्याग करके महा निर्जन वन में जहाँ सिंहादिक अनेक क्रूर वनचर जीव रहते हैं, वहाँ पर्वत की गुफाओं में, शिखरों पर अथवा श्मशान भूमि में निवास करते हैं।

उन विषम स्थानों में भी अनेक व्यन्तरादिक विविध प्रकार के उपसर्ग करते हैं तो भी वे महाधीर रंचमात्र भी दुःख नहीं मानते और उस स्थान को नहीं छोड़ते ह्य इसप्रकार निषद्या परीषह को जीतते हैं।

२२. स्त्री परीषह ह्य देव, मनुष्य, तिर्यचादि संसारी जीव स्त्री वेद के प्रति राग से सुख मानते हैं और उनके साथ हास्य, रति, केलि, कौतूहलादि करके आनन्द मानते हैं; किन्तु मुनिराज ने तो कामिनी का संग ऐसे त्याग दिया है, जैसे सज्जन पुरुष दुर्जन का साथ छोड़ देते हैं।

स्त्री के शरीर को महामलिन, दुर्गति का कारण जानकर उससे कभी अनुराग नहीं करते। सुन्दर रमणियों के मिष्ट वचन सुनकर भी, हाव-

भाव-विलास-विभ्रम-कौतुक की क्रियाओं को देखने पर भी किंचित् मात्र भी विचलित नहीं होते। अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए स्वात्मध्यान में लीन रहते हैं। अर्थात् सकल विभावपरिणति को छोड़कर अपनी ज्ञानानन्दरूप स्वभाव परिणति में ही रमण करते हैं। इसप्रकार स्त्री परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

इस तरह इन बाईस परीषहों को मुनिराज निरन्तर संक्लेश और विषाद मन से रहित होकर सहन करते हैं। उनका मन चतुर्गति के दुखों के कारणभूत ज्ञानावरणादि कर्मों से भयभीत है।

भावार्थ ह्य जो मुनि संसार परिभ्रमण के क्लेश से कंपायमान हो गए हैं; वे ही दृढ़चित्त होकर बाईस परीषह सहन करते हैं और रंचमात्र भी कायरता नहीं आने देते।

जो मुनिराज परीषह सहन नहीं कर सकते, उनके चित्त की निश्चलता नहीं हो सकती। चित्त की निश्चलता के बिना ध्यान में आरूढ़ता नहीं हो सकती तथा ध्यानारूढ़ता के बिना कर्मकाष्ठ भस्म नहीं हो सकते। कर्मों का नाश हुए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती।

इसलिए मोक्षाभिलाषी मुनि को परीषह अवश्य सहन करना चाहिए। इसतरह बाईस परीषहों का वर्णन पूर्ण हुआ।

मोक्षाभिलाषी को निरन्तर रत्नत्रय का सेवन करना चाहिए ह्य
इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।

परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता ॥२०९॥

अन्वयार्थ ह्य (इति) इसप्रकार (एतत्) पूर्वोक्त (रत्नत्रयम्) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय (विकलम्) एकदेश (अपि) भी (निरत्ययां) अविनाशी (मुक्तिम्) मुक्ति के (अभिलषिता) चाहनेवाले (गृहस्थेन) गृहस्थ को (अनिशं) निरन्तर (प्रतिसमयं) हर समय (परिपालनीयम्) सेवन करना चाहिए।

टीका ह 'इति एतत् रत्नत्रयं प्रतिसमयं विकलम् अपि निरत्ययां मुक्तिम् अभिलषिता गृहस्थेन अनिशं परिपालनीयम्।' ह

इसप्रकार यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय प्रतिसमय गृहस्थ श्रावक को भी यदि सर्वदेश पालन न हो सके तो एकदेश ही निरन्तर अविनाशी मोक्ष का इच्छुक होते हुए पालन करना चाहिए।

भावार्थ ह मुनि के तो रत्नत्रय पूर्णरूप से है; किन्तु गृहस्थ श्रावक सम्पूर्ण रत्नत्रय का पालन नहीं कर सकता। इसलिए उसे एकदेश पालन करना चाहिए; किसी भी दशा में उसे रत्नत्रय से विमुख नहीं होना चाहिए; क्योंकि वह रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है।

मुनि का रत्नत्रय महाव्रत के योग से साक्षात् मोक्ष का कारण है और श्रावक का रत्नत्रय अणुव्रत के योग से परम्परा मोक्ष का कारण है।

अर्थात् जिस श्रावक को सम्यग्दर्शन हो जाता है, उसका अल्पज्ञान भी सम्यग्ज्ञान और अणुव्रत भी सम्यक्चारित्र कहा जाता है। इसलिए रत्नत्रय का धारण करना अत्यावश्यक है।

नव तत्त्वों की श्रद्धा करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है और निजस्वरूप की श्रद्धा अर्थात् स्वानुभव होना निश्चय सम्यग्दर्शन है।

जिनागम से आगमपूर्वक सात अथवा नव तत्त्वों को जान लेना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है और निजस्वरूप का भान अर्थात् आत्मज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

अशुभकार्यों से निवृत्तिपूर्वक शुभकार्यों में प्रवृत्ति करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है। शुभ प्रवृत्तियों से भी निवृत्ति लेकर शुद्धोपयोगरूप निजस्वरूप में स्थिर होना निश्चय सम्यक्चारित्र है।

इसतरह रत्नत्रय का संक्षेप में व्याख्यान किया। श्रावक को इसका एकदेश पालन अवश्य ही करना चाहिए। बिना रत्नत्रय के किसी जीव का कल्याण कदापि हो नहीं सकता।

गृहस्थों को शीघ्र मुनिव्रत धारण करना चाहिए, ऐसा बताते हैं ह बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।

पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ॥२१०॥

अन्वयार्थ ह (च) और यह विकलरत्नत्रय (नित्यं) निरन्तर (बद्धोद्यमेन) उद्यम करने में तत्पर ऐसे मोक्षाभिलाषी गृहस्थों को (बोधिलाभस्य) रत्नत्रय के लाभ का (समयं) समय (लब्ध्वा) प्राप्त करके तथा (मुनीनां) मुनियों के (पदम्) पद का (चरण का) (अवलम्ब्य) अवलम्बन करके (सपदि) शीघ्र ही (परिपूर्णम्) परिपूर्ण (कर्तव्यम्) करना योग्य है।

टीका ह 'नित्यं बद्धोद्यमेन बोधिलाभस्य समयं लब्ध्वा च मुनीनां पदम् अवलम्ब्य सपदि परिपूर्णं कर्तव्यम्' ह

गृहस्थ को सदा उद्यमशील होकर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का समय प्राप्त करके मुनिपद धारण करके शीघ्र ही रत्नत्रय की पूर्णता कर लेना चाहिए।

भावार्थ ह विवेकी पुरुष गृहस्थ दशा में ही संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर सदैव मोक्षमार्ग में उद्यमी रहते हैं। वे अवसर पाकर शीघ्र मुनिपद धारण करके सकल परिग्रह का त्याग करके निर्विकल्प ध्यान में आरूढ़ होकर पूर्ण रत्नत्रय को प्राप्त कर संसारभ्रमण का नाश करके मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र कर लेते हैं। अथवा एकदेश रत्नत्रय को धारण करके इन्द्रादिक उच्चपद और परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त करते हैं।

अतः ज्ञानवन्त को सदा एक ही उपाय करना योग्य है; जिससे भव भ्रमण मिटे। कर्मबंध का नाश का उपाय है, वह धर्मध्यान का दूसरा उपाय अपाय विचय है और इसी का दूसरा नाम उपाय विचय है। रत्नत्रय की प्राप्ति के उपाय को उपाय विचय कहते हैं।

रत्नत्रय बन्ध का कारण नहीं, राग ही बन्ध का कारण है ह

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।

स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

अन्वयार्थ ह्य (असमग्रं) अपूर्ण (रत्नत्रयं) रत्नत्रय की (भावयतः) भावना करनेवाले पुरुष के (यः) जो (कर्मबन्धः) शुभकर्म का बन्ध (अस्ति) होता है, (सः) वह बन्ध (विपक्षकृतः) विपक्षकृत अर्थात् रागकृत है, (और) निश्चय रत्नत्रय तो (अवश्यं) अवश्य ही (मोक्षोपायः) मोक्ष का उपाय है, (न बन्धनोपायः) बन्ध का उपाय नहीं है।

टीका ह्य 'असमग्रं रत्नत्रयं भावयतः यः कर्मबन्धः अस्ति सः विपक्ष-कृतः रत्नत्रयं तु अवश्यं मोक्षोपायः अस्ति न बन्धनोपायः।' ह्य

एकदेशरूप रत्नत्रय के पालन करनेवाले पुरुष को जो कर्मबन्ध होता है, वह रत्नत्रय से नहीं होता; किन्तु रत्नत्रय के विपक्षी राग-द्वेष हैं, उनसे होता है।

रत्नत्रय योग और कषायरूप नहीं हैं, इनसे सर्वथा भिन्न है। वह रत्नत्रय तो वास्तव में मोक्ष का ही उपाय है, बन्ध का उपाय नहीं।

भावार्थ ह्य एकदेश रत्नत्रय धारण करनेवाले जीव के जो कर्मबन्ध होता है, वह कर्मबन्ध उस रत्नत्रय से नहीं होता; बल्कि उसके उस समय विद्यमान जो शुभकषाय है, उसी से होता है। इससे यही सिद्ध हुआ कि कर्मबन्ध करनेवाली तो शुभकषाय है, रत्नत्रय कदापि नहीं।

अब रत्नत्रय और राग का फल बताते हैं ह्य

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१३॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

अन्वयार्थ ह्य (अस्य) इस आत्मा के (येनांशेन) जितने अंश में (सुदृष्टिः) सम्यग्दर्शन है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (बन्धनं) बन्ध (नास्ति) नहीं है; (तु) परन्तु (येन) जितने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (रागः) राग है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (बन्धनं) बन्ध (भवति) होता है।

(येन) जितने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (ज्ञानं) ज्ञान है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (बन्धनं) बन्ध (नास्ति) नहीं है; (तु) परन्तु (येन) जितने (अंशेन) अंश में (रागः) राग है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (बन्धनं) बन्ध (भवति) होता है।

(येन) जितने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (चरित्रं) चारित्र है, (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (बन्धनं) बन्ध (नास्ति) नहीं है; (तु) परन्तु (येन) जितने (अंशेन) अंश में (रागः) राग है (तेन) उतने (अंशेन) अंश में (अस्य) इसके (बन्धनं) बन्ध (भवति) होता है।

टीका ह्य 'येन अंशेन सुदृष्टिः ज्ञानं चरित्रं च तेन अंशेन बन्धनं नास्ति किन्तु येन अंशेन रागः तेन अंशेन बन्धनं भवति' । ह्य

जितने अंश में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र हैं, उतने अंश में कर्मबन्ध नहीं है तथा जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है।

भावार्थ ह्य जीव के तीन भेद हैं ह्य १. बहिरात्मा, २. अंतरात्मा, ३. परमात्मा। इन तीनों में से बहिरात्मा तो मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसके सम्यग्दर्शन नहीं है, केवल रागभाव ही है, अतः सर्वथा बन्ध ही है। परमात्मा भगवान् जिनके पूर्ण सम्यग्दर्शन हो गया है, उनके रागभाव के अत्यन्त अभाव होने के कारण सर्वथा बन्ध नहीं है, मोक्ष ही है।

अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक हैं। इसलिए इस अन्तरात्मा के जितने अंश में *सम्यग्दर्शन हो गया है, उतने अंश में कर्म का बन्ध नहीं है तथा जितने अंश में राग भाव है, उतने अंश में कर्म बंध है।

चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी रागभाव नहीं है तो उतना कर्मबन्ध भी नहीं है, शेष अप्रत्याख्यानावरणादि तीन का बन्ध है।

* चतुर्थ गुणस्थान में सभी जीवों का सम्यग्दर्शन तो पूर्ण शुद्ध है, अतः उस अपेक्षा से राग नहीं, बन्ध नहीं, किन्तु जितना चारित्र का दोष है, उतना बन्ध है।

पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानरूप रागभाव का अभाव हुआ, अतः उसका भी बन्ध रुक गया; परन्तु प्रत्याख्यानावरणादि दो कषाय चौकड़ी का बन्ध अभी शेष है।

छठे-सातवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी रागभाव नष्ट हुआ, तब उतना बन्ध भी मिट गया।

जितने अंशमें जिस जीव के सम्यग्ज्ञान हो गया है, उतने ही अंश में रागभाव का अभाव होने के कारण कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्मों का बन्ध है।

भावार्थ ह्य मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीव के सम्यग्ज्ञान का अभाव है और मिथ्याज्ञान का सद्भाव है। इसलिए उनको पूर्ण राग-द्वेष होने से अवश्य ही कर्म का बन्ध होता है।

तेरहवें गुणस्थानवर्ती परमात्मा हैं, उन्हें पूर्ण सम्यग्ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रकट हो जाने के कारण राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो गया है। अतः उनके कर्म का बन्ध बिलकुल नहीं है।

जो अन्तरात्मा-अविरत सम्यदृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से लेकर क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान तक है, उनके जितने अंश में सम्यग्ज्ञान प्रकट होकर राग-द्वेष मिटता जाता है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध नहीं है तथा जितने अंश में राग-द्वेष मौजूद हैं, उतने ही अंश में कर्मबन्ध भी होता रहता है।

जितने अंश में सम्यक्चारित्र प्रकट हो गया है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध नहीं है। जितने अंश में राग-द्वेषभाव हैं, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है; ऊपर की तरह यहाँ भी समझ लेना।

बहिरात्मा के मिथ्याचारित्र है, सम्यक्चारित्र रंचमात्र भी नहीं है। अतः उसके राग द्वेष की पूर्णता होने से कर्म का पूर्ण बन्ध है।

परमात्मा के पूर्ण सम्यक्चारित्र होने के कारण रंचमात्र भी कर्म का बन्ध नहीं है।

अन्तरात्मा के जितने अंश में राग-द्वेषभाव का अभाव है, उतने अंश में कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में राग-द्वेष हैं, उतने अंश में कर्म का बन्ध है।

भावार्थ ह्य मोहनीयकर्म के दो भेद हैं ह्य दर्शनमोह, चारित्रमोह। दर्शनमोह के उदय से मिथ्यादर्शन होता है और चारित्रमोह के उदय से मिथ्याचारित्र अथवा अचारित्र होता है।

चारित्र के दो भेद हैं ह्य एक स्वरूपाचरण, दूसरा संयमाचरण। इनमें से जघन्य स्वरूपाचरण तो चतुर्थ गुणस्थान में प्रकट होता ही है तथा संयमाचरण के दो भेद हैं, एकदेश और सर्वदेश। पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक के तो एकदेश चारित्र है और छठवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मुनिराज के सकलदेश चारित्र है तथा तेरहवें गुणस्थान में पहुँचने पर वे ही मुनिराज जिनराज बन गये और परमात्मा कहलाये, वहाँ उनके सम्यक्चारित्र की पूर्णता होकर बन्ध का अभाव हो गया।

जितना-जितना उन कषायों का अभाव होता जाता है, उतना-उतना ही उसके सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्चारित्र गुण का विकास होता जाता है।

जैसे कि दर्शनमोहनीय का अभाव होने पर सम्यग्दर्शन होता है और अनंतानुबन्धी चौकड़ी का अभाव होने पर उतने अंश में स्वरूपाचरणचारित्र प्रकट होता है। अप्रत्याख्यानावरण चौकड़ी का अभाव होने से देशचारित्र प्रकट होता है। प्रत्याख्यानावरण चौकड़ी का अभाव होने से सकलचारित्र प्रकट होता है तथा संज्वलन चौकड़ी और नव नोकषाय का अभाव होने से यथाख्यातचारित्र प्रकट होता है -

इसतरह इस मोहनीयकर्म की २५ प्रकृतियाँ ही जीव को राग-द्वेष होने में निमित्त कारण हैं।

उनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान, प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान, संज्वलन क्रोध-मान - ये आठ और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा - सब मिलकर बारह प्रकृतियाँ तो द्वेषरूप परिणमन में निमित्त हैं तथा शेष तेरह प्रकृतियाँ रागरूप परिणमन में निमित्त हैं।

इसप्रकार अनादिकाल से यह जीव इन्हीं २५ कषायों के वशीभूत होकर नित्य अनेक दुष्कर्म करता हुआ संसारसागर में भ्रमण कर रहा है, अतः आठों कर्मों में इस मोहनीयकर्म को सर्वप्रथम जीतना चाहिए।

जबतक मोहनीयकर्म का पराजय न हो, तबतक शेष कर्मों की पराजय हो ही नहीं सकती। इसलिए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करके दर्शनमोह का, सम्यग्ज्ञान से ज्ञानावरण का और सम्यक्चारित्र से चारित्रमोहनीय का नाश करके सम्यक् रत्नत्रय प्रकट करना चाहिए।

जब कोई भी जीव इसी क्रम से कर्मों का नाश करके आत्मा के गुणों का विकास करेगा, तभी वह अपने ध्येय को प्राप्त कर सकेगा।

आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध कशनेवाला कौन है? यह बात बताते हैं ह्योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात्।

दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं न कषायरूपं च ॥२१५॥

अन्वयार्थ ह्य (प्रदेशबन्धः) प्रदेशबन्ध (योगात्) मन, वचन, काय के व्यापार से (तु) और (स्थितिबन्धः) स्थितिबन्ध (कषायात्) क्रोधादि कषायों से (भवति) होता है; परन्तु (दर्शनबोधचरित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय (न) न तो (योगरूपं) योगरूप है (च) और न (न कषायरूपं) कषायरूप ही है।

टीका ह्य 'योगात् प्रदेशबन्धः भवति तु कषायात् स्थितिबन्धः भवति यतः दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं न कषायरूपं च भवति।'

मन, वचन, काय के योग से प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध होता है तथा क्रोधादि कषायों से स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है।

यहाँ श्लोक में यद्यपि प्रकृतिबन्ध और अनुभागबन्ध का उल्लेख नहीं किया गया है तो भी उपलक्षण से ग्रहण हो जाता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र – ये तीन न तो योगरूप हैं और न कषायरूप ही हैं। इसलिए रत्नत्रय कर्मबन्ध का कारण नहीं हो सकता, मोक्ष का ही कारण है।

भावार्थ ह्य बन्ध चार प्रकार का है – प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। इनमें से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो योगों से होते हैं तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायों से होते हैं।

अब इन चारों बन्धों का स्वरूप कहते हैं।

प्रकृतिबन्ध – प्रकृति नाम स्वभाव का है। कर्मों की मूलप्रकृति आठ और उत्तरप्रकृति एक सौ अड़तालीस हैं।

१. ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव परदे के समान है। जैसे जिस वस्तु के ऊपर परदा ढँका हुआ हो, वह परदा उस वस्तु का ज्ञान नहीं होने में कारण है। उसीप्रकार जबतक आत्मा के साथ ज्ञानावरण कर्मरूपी परदा हो, तब तक वह आत्मा को पदार्थों का सम्यग्ज्ञान नहीं होने में कारण है।

२. दर्शनावरण कर्म का स्वभाव दरबान जैसा है। जिसप्रकार दरबान राजा का दर्शन नहीं होने देता, वैसे ही दर्शनावरण कर्म आत्मा को स्व-पर पदार्थों का दर्शन नहीं होने देता।

३. वेदनीयकर्म का स्वभाव शहद लपेटी तलवार के समान है। जैसे तलवार चखने पर मीठी लगती है; परन्तु जीभ को काट डालती है। वैसे ही वेदनीय कर्म भी पहले थोड़े समय सुखरूप लगता है, पश्चात् दुखदायक बन जाता है।

४. मोहनीयकर्म का स्वभाव मदिरा जैसा है। जैसे मदिरा पीने से मनुष्य असावधान हो जाता है अर्थात् मनुष्यता का भान नहीं रहता। वैसे ही मोहनीय कर्म में जुड़ने से आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर पर पदार्थों में अपनत्व, स्वामित्व तथा कर्ता-भोक्तापना मानता है।

५. आयुकर्म का स्वभाव बेड़ी सहित जेल समान है। जिसप्रकार कोई मनुष्य जबतक जेल में है, तबतक वहाँ से निकलकर कहीं भी जा नहीं सकता। उसीप्रकार जीव ने जिस आयुकर्म का बन्ध किया है, वह आयु जबतक पूर्ण न हो, तबतक उसे उसी गति में रहना पड़ता है।

६. नामकर्म का स्वभाव चित्रकार समान है। जिसप्रकार चित्रकार भिन्न-भिन्न जाति के अर्थात् कभी मनुष्य का, कभी घोड़े का, कभी हाथी का चित्र बनाता है। उसीप्रकार नामकर्म भी इस जीव को कभी मनुष्य, कभी बहरा, कभी गूँगा, कभी लँगड़ा इत्यादि प्रकार से अनेकरूप बनाता है।

७. गोत्रकर्म का स्वभाव कुम्हार जैसा है। जैसे कुम्हार कभी छोटे और कभी बड़े बर्तन बनाता है, वैसे ही गोत्रकर्म भी इस जीव को कभी उच्च कुल में और कभी नीच कुल में उत्पन्न करता है।

८. अन्तरायकर्म का स्वभाव भण्डारी जैसा है। जैसे राजा किसी को कोई इनाम आदि देता हो और भण्डारी उसे न देने दे, वैसे ही अन्तरायकर्म भी आत्मा को प्राप्त होनेवाले पदार्थों में अनेक प्रकार के विघ्न डालकर उन पदार्थों को प्राप्त नहीं होने देता। अर्थात् यह दान-लाभादि में अन्तराय डालता है।

इसतरह यह आठ कर्मों का स्वभाव है। ये सभी अपने-अपने स्वभाव सहित जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, इसी को प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

अब प्रदेशबन्ध का वर्णन करते हैं - आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में से एक-एक प्रदेश के साथ कर्म के अनन्तानन्त परमाणु बँधते हैं। अर्थात् जीव के प्रदेश और कर्म के परमाणु दोनों एक क्षेत्रावगाह होकर रहते हैं, उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं।

अब स्थितिबन्ध का वर्णन करते हैं - जो कर्म (जीव के साथ रहने की) अपनी-अपनी स्थिति लिये हुए बँधे हैं, उसे स्थितिबन्ध कहते हैं। जैसे कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय - इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर की है। मोहनीय कर्म में से दर्शनमोहनीय की ७० कोड़ाकोड़ी तथा चारित्रमोहनीय की ४० कोड़ाकोड़ी सागर की है। नाम और गोत्रकर्म की स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर की है। आयुर्कर्म की स्थिति ३३ सागर की है। इसप्रकार यह इन सबकी उत्कृष्ट स्थिति है।

जघन्य स्थिति - नाम और गोत्रकर्म की ८ मुहूर्त, वेदनीय की १२ मुहूर्त, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयुर्कर्म की अन्तर्मुहूर्त है। मध्यम स्थिति के अनेक भेद हैं। इस प्रकार स्थितिबन्ध का वर्णन किया।

अब अनुभागबन्ध का वर्णन करते हैं - कर्मों का विपाक अर्थात् उनमें जो फल देने की शक्ति होती है, उसे ही अनुभागबन्ध कहते हैं। यह अनुभागबन्ध घातिया कर्मों का तो केवल अशुभरूप ही होता है और अघातियाकर्मों का शुभरूप एवं अशुभरूप दोनों प्रकार का होता है।

जैसे कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय - इन चार का तो लता, दारु, (लकड़ी) हड्डी और पत्थररूप क्रम से बढ़ता-बढ़ता अनुभाग बन्ध होता है।

नाम, गोत्र, वेदनीय, आयु - इन चार कर्मों का यदि शुभरूप हो तो गुड़, खाँड, शक्कर और अमृत समान क्रमशः बढ़ते हुए माधुर्य की तरह शुभरूप फल देता है। यदि अशुभरूप हो तो नीम, काँजी, विष और हलाहल समान क्रमशः बढ़ती हुई कटुकता की तरह अशुभरूप फल देता है।

इसप्रकार इन सभी कर्मों का विपाक हुआ करता है।

इस तरह चारों प्रकार के बन्ध का वर्णन किया।

रत्नत्रय से बन्ध कैसे नहीं होता - यह बताते हैं ह

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।

स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥२१६॥

अन्वयार्थ ह (आत्मविनिश्चितिः) अपने आत्मा का विनिश्चय (दर्शनम्) सम्यग्दर्शन, (आत्मपरिज्ञानं) आत्मा का विशेष ज्ञान (बोधः) सम्यग्ज्ञान और (आत्मनि) आत्मा में (स्थितिः) स्थिरता (चारित्रं) सम्यक्चारित्र (इष्यते) कहा जाता है, तो फिर (एतेभ्यः) इन तीनों से (कुतः) किस तरह (बन्धः) बन्ध (भवति) होवे?

टीका ह 'आत्मविनिश्चितिः दर्शनम्, आत्मपरिज्ञानं बोधः, आत्मनि स्थितिः चारित्रम् इष्यते, एतेभ्यः बन्धः कुतः भवति?' ह

आत्मा के स्वरूप का निश्चय करना सम्यग्दर्शन है। आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मस्वरूप में लीनता (अर्थात् निश्चल) होना सम्यक्चारित्र है। ये तीनों आत्मस्वरूप ही हैं। जब ये तीनों गुण आत्मस्वरूप ही हैं तो इनसे कर्मों का बन्ध कैसे हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता।

भावार्थ ह् रत्नत्रय दो प्रकार का है ह् व्यवहाररत्नत्रय और निश्चयरत्नत्रय। देव-शास्त्र-गुरु का तथा नव तत्त्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। तत्त्वों के स्व-पर स्वरूप को जान लेना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। अशुभ क्रियाओं से प्रवृत्ति हटाकर शुभक्रिया में प्रवृत्ति करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है - यह व्यवहार रत्नत्रय हुआ। जो परम्परा मोक्ष का कारण है तथा साक्षात् इन्द्र-अहमिन्द्र आदि पद का कारण है।

आत्मस्वरूप का श्रद्धान करना निश्चय सम्यग्दर्शन, आत्मज्ञान करना निश्चय सम्यग्ज्ञान और आत्मस्वरूप में परिणामन - विश्राम करना निश्चय सम्यक्चारित्र है। यह निश्चय रत्नत्रय साक्षात् मोक्ष का कारण है, मोक्षरूप ही है, वह जीव को कर्मों से छुड़ाने का कारण है; परन्तु कर्मबन्ध का कारण सर्वथा नहीं है।

रत्नत्रय, तीर्थकरादि प्रकृतियों के भी बन्ध का कर्ता नहीं है, यह बताते हैं ह्

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्मणो बन्धः।

योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥२१७॥

अन्वयार्थ ह् (अपि) और (तीर्थकराहारकर्मणः) तीर्थकर प्रकृति और आहारक प्रकृति का (यः) जो (बन्धः) बन्ध (सम्यक्त्वचरित्राभ्यां) सम्यक्त्व और चारित्र से (समये) आगम में (उपदिष्टः) कहा गया है, (सः) वह (अपि) भी (नयविदां) नय के ज्ञाताओं को (दोषाय) दोष का कारण (न) नहीं है।

टीका ह् 'सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्मणः बन्धः (भवति) यः अपि समये उपदिष्टः सः अपि नयविदां दोषाय न भवति।' ह्

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सम्यक्चारित्र से तीर्थकरप्रकृति और आहारक-प्रकृति का बन्ध होता है, ऐसा जो सिद्धान्त में उपदेश है, वह भी अनेक नय के वेत्ता विवेकी जिनधर्मी पुरुषों के समक्ष दोष अर्थात् विरोध उत्पन्न नहीं करता।

भावार्थ ह् बंधयोग्य १२० प्रकृतियाँ हैं; उनमें से मिथ्यादृष्टि ११७ प्रकृतियाँ का बंध करता है। वह तीर्थकर एवं आहारक द्विक का बंध नहीं करता। सम्यग्दर्शन प्रकट होने के पश्चात् ही तीर्थकर नामकर्म की प्रकृति का बन्ध तथा सम्यक्चारित्र होने के पश्चात् ही आहारक प्रकृति का बन्ध होता है, जो ऐसा कथन है कि रत्नत्रय तो कर्म का बन्ध करनेवाला नहीं है, वह कैसे ?

उसे ही स्पष्ट करते हैं ह्

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः।

योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥२१८॥

अन्वयार्थ ह् (यस्मिन्) जिसमें (सम्यक्त्व-चरित्रे सति) सम्यक्त्व और चारित्र होने पर (तीर्थकराहारबन्धकौ) तीर्थकर और आहारकद्विक के बन्ध करनेवाले (योगकषायौ) योग और कषाय (भवतः) होते हैं (पुनः) और (असति न) नहीं होने पर नहीं होते अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र बिना, बन्ध के कर्ता योग और कषाय नहीं होते, (तत्) वह सम्यक्त्व और चारित्र (अस्मिन्) इस बन्ध में (उदासीनम्) उदासीन है।

टीका ह् 'सम्यक्त्व-चरित्रे सति योगकषायौ बन्धकौ भवतः असति न तस्मात् तत्पुनः अस्मिन् उदासीनम्।' ह्

सम्यक्त्व और चारित्र के प्रकट होने पर ही मन, वचन, काय के योग तथा अनन्तानुबन्धी को छोड़कर शेष तीन कषायों की उपस्थिति में तीर्थकर और आहारक द्विक का बन्ध होता है; अतः रत्नत्रय है, वह तो बन्धक नहीं है, वह तो बन्ध में उदासीन है।

(तीर्थकर प्रकृति का बन्ध तो योग, तीन कषाय चौकड़ी अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन तथा नौ नोकषाय में होता है, फिर भी वह सम्यक्त्व और चारित्र इस बन्ध में उदासीन है अर्थात् रागरूप नहीं है।)

भावार्थ ह्व जब आत्मा में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र गुण प्रकट नहीं था, तब भी आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता था और जब एकदेश सम्यक्चारित्र प्रकट हो गया, तब भी आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता है; इससे सिद्ध हुआ कि कर्मों के बन्ध में कारण योग-कषायों का सद्भाव है और कर्मों के अबन्ध में कारण योग-कषायों का असद्भाव है।

शङ्का ह्व यदि ऐसा है तो सम्यक्त्व को देवायु के बन्ध का कारण क्यों कहा?

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः।

सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥२१९॥

अन्वयार्थ ह्व (ननु) कोई पुरुष शंका करता है कि (रत्नत्रय-धारिणां) रत्नत्रय के धारक (मुनिवराणां) श्रेष्ठ मुनियों को (सकलजनसुप्रसिद्धः) सर्व लोक में भलेप्रकार प्रसिद्ध (देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः) देवायु आदि उत्तम प्रकृतियों का बन्ध (एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (कथं) किस तरह (सिद्ध्यति) सिद्ध होगा?

टीका ह्व 'ननु रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणां सकलजनसुप्रसिद्धः देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः एवं कथं सिद्ध्यति।' ह्व

यहाँ कोई शंका करे कि रत्नत्रय के धारक मुनिवरों के देवायु आदि शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है, ऐसा जो शास्त्रों में कथन है, वह कैसे सिद्ध होगा?

भावार्थ ह्व यहाँ कोई शंका करता है कि हे स्वामी ! पहले आपने कहा था कि तीर्थकर प्रकृति और आहारकद्विक का बन्ध सराग सम्यक्त्व

में योग और कषायों से होता है, यह बात तो मेरी समझ में आ गई; परन्तु रत्नत्रय के धारक मुनियों के देवायु आदि शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है - ऐसा जो शास्त्रों में कथन है, वह किसप्रकार से सिद्ध होगा?

उसका उत्तर ह्व

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।

आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

अन्वयार्थ ह्व (इह) इस लोक में (रत्नत्रयं) रत्नत्रय धर्म (निर्वाणस्य एव) निर्वाण का ही (हेतु) कारण (भवति) होता है, (अन्यस्य) अन्य गति का (न) नहीं (तु) और (यत्) जो रत्नत्रय में (पुण्यम् आस्रवति) पुण्य का आस्रव होता है, (अयम्) यह (अपराधः) अपराध (शुभोपयोगः) शुभोपयोग का है।

टीका ह्व 'इह रत्नत्रयं निर्वाणस्य एव हेतुः भवति अन्यस्य न तु यत् पुण्यम् आस्रवति अयम् अपराधः शुभोपयोगः।' ह्व

इस लोक में रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र मोक्ष का ही कारण होता है, दूसरी गति का नहीं तथा रत्नत्रय के सद्भाव में जो शुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है, वह सब शुभकषाय और शुभयोग से ही होता है अर्थात् वह शुभोपयोग का ही अपराध है, किन्तु रत्नत्रय का नहीं है।

भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं तो भी व्यवहार से एक-दूसरे का भी कार्य कहने में आता है।

भावार्थ ह्व प्रथम श्लोक में शिष्य ने प्रश्न किया था कि तीर्थकर और आहारकद्विक का बन्ध तो सम्यक्त्व के भावों में योग और कषायों से बताया। फिर देवायु आदि अन्य शुभप्रकृतियों का बन्ध रत्नत्रय में कैसे हो सकता है?

उसका समाधान यह किया कि वास्तव में रत्नत्रय तो निर्वाण का ही कारण है; परन्तु उसके होते हुए जो इन्द्रादि देवपद का आस्रव होता है, वह शुभोपयोग का अपराध है; रत्नत्रय का दोष किञ्चित् भी नहीं है।

सम्यक्त्व से शुभकर्मों का बंध होता है, यह व्यवहारनय का कथन है; इस विषय को स्पष्ट करते हैं ह

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि ।

इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः ॥२२१॥

अन्वयार्थ ह (हि) निश्चय से (एकस्मिन्) एक वस्तु में (अत्यन्तविरुद्धकार्ययोः) अत्यन्त विरोधी दो कार्यों के (अपि) भी (समवायात्) मेल से (तादृशः अपि) वैसा ही (व्यवहारः) व्यवहार (रूढिम्) रूढि को (इतः) प्राप्त है, (यथा) जैसे (इह) इस लोक में (घृतं दहति) घी जलाता है, (इति) इसप्रकार की कहावत है ।

टीका ह 'हि एकस्मिन् अत्यन्तविरुद्धकार्ययोः अपि समवायात् यथा घृतम् दहति इति व्यवहारः अपि तादृशः व्यवहारः रूढिम् इतः ।' ह

एक ही वस्तु में जिनका कार्य परस्पर अत्यन्त विरुद्ध दो कार्यों का बन्ध होने से 'जैसे घी जलाता है' ऐसे एक में दूसरे का व्यवहार हो जाता है । उसीप्रकार यहाँ भी व्यवहार प्रसिद्ध हो गया है कि सम्यक्त्व से शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है ।

परस्पर विरुद्ध हैं ऐसे ज्ञानभाव और रागभाव के समवाय अर्थात् मिलाप से जो कर्मों का बन्ध होता है, वह इस तरह जानना चाहिए -

जैसे अग्नि के संयोग से उष्ण हुए घृत के द्वारा कोई पुरुष जल गया । वहाँ यद्यपि जलाने का स्वभाव घृत का नहीं है, अग्नि का ही है; परन्तु फिर भी उन दोनों के संयोग से लोक में ऐसा कहा जाता है कि घृत ने शरीर को जला दिया ।

उसीप्रकार सम्यक्त्व और रागभाव इन दोनों के मिलाप में यद्यपि बन्ध का कारण तो राग ही है, सम्यक्त्व नहीं । फिर भी व्यवहाररूढि से यही प्रसिद्ध है कि रत्नत्रय, इन्द्रअहमिन्द्रादिक शुभबन्ध का कारण है अर्थात् सम्यक्त्व से शुभप्रकृतियों का बन्ध होता है ।

भावार्थ ह जैसे अग्नि और घृत दोनों का परस्पर विरुद्ध कार्य है । घृत का काम तो पुष्ट करने का है और अग्नि का काम जलाने का है । घी तो जलाता नहीं है; किन्तु ऐसा कहा जाता है कि घी जलाता है ।

उसी प्रकार सम्यक्त्व का काम कर्मबन्ध कराने का नहीं है । फिर भी आत्मा में सम्यक्त्व और रागभाव दोनों के सम्बन्ध से ऐसा कहा जाता है कि सम्यक्त्व से कर्म का बन्ध होता है । इसीलिए लोक में व्यवहार भी ऐसा होता है कि सम्यक्त्व से शुभकर्मों का बन्ध होता है, रत्नत्रय से मोक्ष का लाभ होता है ।

विचार करने से ज्ञात होगा कि जलाना घी का लक्षण नहीं है, वह तो अग्नि का ही लक्षण है; किन्तु दोनों का परस्पर संयोग हो जाने के कारण यदि यह कह दिया जाये कि अमुक पुरुष घृत से जल गया तो कोई दोष नहीं है ।

उसीप्रकार एक पुरुष में ज्ञानधारा और अज्ञान (राग) धारा दोनों एक ही समय में चल रही हैं । वहाँ बन्ध का कारण तो रागादिरूप अज्ञानधारा ही है, ज्ञानधारा बन्ध का कारण नहीं है । फिर भी दोनों का संयोग होने के कारण सम्यक्त्व को शुभबन्ध का कारण कह दिया जाये तो दोष नहीं है -ऐसा व्यवहार इस लोक में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है ।

रत्नत्रय से तो मोक्ष का लाभ होता है ह

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।

मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥२२२॥

अन्वयार्थ ह (इति) इसप्रकार (एषः) यह पूर्वकथित (मुख्योपचार-रूपः) निश्चय और व्यवहाररूप (सम्यक्त्व-बोध-चारित्रलक्षणः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षणवाला (मोक्षमार्गः) मोक्ष का मार्ग (पुरुषं) आत्मा को (परं पदं) परमात्मा का पद (प्रापयति) प्राप्त करवाता है ।

टीका ह 'सम्यक्त्व-बोध-चारित्रलक्षणः इति एषः मोक्षमार्गः मुख्योपचाररूपः पुरुषं परं पदं प्रापयति ।' ह

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - इन तीन स्वरूप ही मोक्षमार्ग अर्थात् निर्वाण का मार्ग है । यह मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है और यही आत्मा को मोक्ष पहुँचाता है ।

भावार्थ ॥ निश्चयरत्नत्रय तो मुख्य है और व्यवहाररत्नत्रय उपचाररूप है। यह दोनों ही मोक्ष के मार्ग हैं और जीव को परमपद की प्राप्ति करवाते हैं। अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग साक्षात् मोक्षमार्ग का साधक है तथा व्यवहार मोक्षमार्ग परम्परा से मोक्षमार्ग का साधक है अथवा व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का कारण है।

अब परमात्मा का स्वरूप कहते हैं ॥

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।

गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः॥२२३॥

अन्वयार्थ ॥ (नित्यमपि) हमेशा (निरुपलेपः) कर्मरूपी रज के लेप से रहित (स्वरूपसमवस्थितः) अपने अनन्तदर्शन-ज्ञान स्वरूप में भले प्रकार स्थित (निरुपघातः) उपघात रहित और (विशदतमः) अत्यन्त निर्मल (परमपुरुषः) परमात्मा (गगनम् इव) आकाश की भाँति (परमपदे) लोकशिखर स्थित मोक्षस्थान में (स्फुरति) प्रकाशमान होते हैं।

टीका ॥ 'नित्यम् अपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितः निरुपघातः विशदतमः परमपुरुषः गगनम् इव परमपदे स्फुरति।' ॥

सदाकाल कर्ममल रहित, निजस्वरूप में स्थित, घात रहित, अत्यन्त निर्मल ऐसे परमात्मा सिद्धपरमेष्ठी हैं; वे मोक्ष में आकाश के समान दैदीप्यमान रहते हैं।

भावार्थ ॥ पुरुष नाम जीव का है और परमपुरुष नाम परमात्मा सिद्ध भगवान का है।

१. संसारी जीव तो नर-नारकादि चारों गतियों में अपनी आयु प्रमाण थोड़े काल तक ही रहता है। सिद्ध भगवान मोक्ष में सदा अनन्तकाल तक विराजमान रहते हैं।

२. संसारी जीव तो कर्ममल से संयुक्त होने के कारण मलिन हैं। सिद्ध भगवान कर्म मल से रहित हैं। इसलिए परम निर्मल हैं।

३. संसारी जीव पुण्य-पापरूपी लेप से लिप्त हैं और सिद्ध परमात्मा आकाश समान निर्लेप हैं।

४. संसारी जीव विभाव परिणति के योग से सदा देहादि पररूप हो रहे हैं और सिद्ध भगवान सदा निजस्वरूप में ही विराजमान रहते हैं।

५. संसार के जीव अन्य जीवों का घात करते हैं तथा दूसरे जीवों के द्वारा स्वयं भी घाते जाते हैं; परन्तु सिद्ध परमेष्ठी न तो किसी का घात करते हैं और न किसी के द्वारा घाते जाते हैं।

ऐसे सिद्ध भगवान अखण्ड, निर्लेप, निराबाध, अविनाशी, निर्मल, निजस्वरूप में स्थित, सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्ष में ही विराजमान रहते हैं। उनका ध्यानकर भव्य जीव परमपद को प्राप्त होंगे।

सिद्ध भगवान का स्वरूप स्पष्ट करते हैं ॥

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।

परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव॥२२४॥

अन्वयार्थ ॥ (कृतकृत्यः) कृतकृत्य, (सकलविषयविषयात्मा) समस्त पदार्थ जिनके विषय हैं अर्थात् सर्व पदार्थों के ज्ञाता, (परमानन्दनिमग्नः) विषयानन्द से रहित ज्ञानानन्द में अतिशय मग्न, (ज्ञानमयः) ज्ञानमय ज्योतिरूप (परमात्मा) मुक्तात्मा (परमपदे) सर्वोच्च मोक्षपद में (सदैव) निरन्तर ही (नन्दति) आनन्दरूप से विराजमान हैं।

टीका ॥ 'परमात्मा कृतकृत्यः सकलविषयविषयात्मा (विरतात्मा वा) परमानन्दनिमग्नः ज्ञानमयः परमपदे सदैव नन्दति।' ॥

सिद्ध भगवान को कोई काम करना शेष नहीं रहा। वे सकल पदार्थों को अपने ज्ञान में विषय करनेवाले अथवा सर्व विषय-विकार से विरक्त, परम सुख में निमग्न और केवलज्ञान सहित, परमपद अर्थात् मोक्ष में सदाकाल आनन्द करते हैं।

भावार्थ ॥ संसार के अर्थात् चतुर्गति के जीवों को अनेक कार्य करने की अभिलाषा है, इसलिए कृतकृत्य नहीं हैं। सिद्ध परमेष्ठी को कोई काम करना शेष नहीं रहा; इसलिए कृतकृत्य हैं।

जगत के जीव परमपद से अर्थात् मोक्ष से विमुख हैं और अपद में (संसार में) स्थित हैं। सिद्ध भगवान अपद से रहित हैं और परमपद में हूँ मोक्ष में विराजमान हैं।

संसारी जीव विषय-विकार सहित हैं। सिद्ध परमात्मा विषय-विकार से रहित हैं।

संसारी जीव अनेक शरीर धारण करते हुए दुःखी हो रहे हैं। सिद्ध परमेश्वर मन, वचन, काय से रहित परम आनन्द में लीन हैं।

संसारी जीव अनादि काल से अज्ञानमय हैं। सिद्ध भगवान् ज्ञानमय है। संसारी जीव आराधने योग्य नहीं है; किन्तु सिद्ध भगवान् आराधने योग्य है। इत्यादि अनंत गुणों से सहित विराजमान हैं।

जैन नीति अथवा नयविवक्षा ह

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।

अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥२२५॥

अन्वयार्थ ह (मन्थाननेत्रम्) दही की मथानी की रस्सी को खींचने-वाली (गोपी इव) ग्वालिनी की तरह (जैनी नीतिः) जिनेन्द्रदेव की स्याद्वादनीति अथवा निश्चय व्यवहाररूप नीति (वस्तुतत्त्वम्) वस्तु के स्वरूप को (एकेन) एक सम्यग्दर्शन से (आकर्षन्ती) अपनी तरफ खींचती है, (इतरेण) दूसरे से अर्थात् सम्यग्ज्ञान से (श्लथयन्ती) शिथिल करती है और (अन्तेन) अन्तिम अर्थात् सम्यक्चारित्र से सिद्धरूप कार्य को उत्पन्न करने से (जयति) सर्व के ऊपर वर्तती है।

अथवा दूसरा अन्वयार्थ ह

अन्वयार्थ ह (मन्थाननेत्रम्) दही की मथानी की रस्सी को खींचनेवाली (गोपी इव) ग्वालिनी की तरह जो (वस्तुतत्त्वम्) वस्तु के स्वरूप को (एकेन अन्तेन) एक अन्त से अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से (आकर्षन्ती) आकर्षण करती है - खींचती है और फिर (इतरेण) दूसरे पर्यायार्थिकनय से (श्लथयन्ती) शिथिल करती है, वह (जैनीनीतिः) जैनमत की न्याय पद्धति (जयति) जयवती है।

टीका ह 'मन्थाननेत्रं गोपी इव जैनी नीतिः वस्तुतत्त्वम् एकेन आकर्षन्ती इतरेण श्लथयन्ती अन्तेन जयति।'

दही की मथानी की रस्सी को खींचनेवाली ग्वालिनी की तरह जिनेन्द्र भगवान् की जो नीति अर्थात् विवक्षा है, वह वस्तुस्वरूप को एक नय विवक्षा से खींचती है, दूसरी नयविवक्षा से ढीला करती है, वह अन्तेन अर्थात् दोनों विवक्षाओं से जयवन्त रहे।

भावार्थ ह भगवान् की वाणी स्याद्वादरूप अनेकान्तात्मक है। वस्तुस्वरूप का निरूपण प्रधान तथा गौण नय की विवक्षा से करने में आता है। जैसे कि जीवद्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से नित्य है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से अनित्य है, यही नयविवक्षा है।

(इस श्लोक में यह बताया है कि शास्त्र में किसी स्थान पर निश्चयनय की मुख्यता से कथन है और किसी स्थान पर व्यवहारनय की मुख्यता से कथन है; परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि सच्चा धर्म किसी समय व्यवहारनय (अभूतार्थनय) के आश्रय से होता है और किसी समय निश्चयनय (भूतार्थनय) के आश्रय से होता है।

वास्तव में धर्म तो हमेशा निश्चयनय अर्थात् भूतार्थनय के विषय के आश्रय से ही होता है।

मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से होता है, किन्तु मोक्षमार्ग दो नहीं है। सरागता से भी मोक्षमार्ग और वीतरागता से भी मोक्षमार्ग - इसप्रकार परस्पर विरुद्धता तथा संशयरूप मोक्षमार्ग नहीं है।)

ग्रन्थ पूर्ण करते हुए आचार्य महाराज अपनी लघुता बताते हैं ह

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।

वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥२२६॥

अन्वयार्थ ह (चित्रैः) अनेक प्रकार के (वर्णैः) अक्षरों से (कृतानि) रचे गए (पदानि) पद हैं, (पदैः) पदों से (कृतानि) बनाये गए (वाक्यानि) वाक्य हैं (तु) और (वाक्यैः) उन वाक्यों से (पुनः) फिर (इदं) यह (पवित्रं) पवित्र-पूज्य (शास्त्रं) शास्त्र (कृतं) बनाया गया है, (अस्माभिः) हमारे द्वारा (न किमपि कृतम्) कुछ भी नहीं किया गया है।

टीका ह्व 'चित्रैः वर्णैः पदानि कृतानि पदैः तु वाक्यानि कृतानि वाक्यैः पवित्रं शास्त्रं कृतं पुनः अस्माभिः न ।'

इस ग्रन्थ के कर्ता श्री अमृतचन्द्राचार्य महाराज ग्रन्थ पूर्ण करते हुए अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि यह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक शास्त्र हमने नहीं बनाया है तो फिर किसने बनाया है?

तब आचार्य ने उत्तर दिया कि नाना प्रकार के अक्षरों से छन्दों के चरण बने हैं और उन चरणों से छन्द अर्थात् वाक्य बने हैं तथा उन वाक्यों से शास्त्र की रचना हुई है; इसलिए इसमें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है।

॥पण्डित श्री दौलतरामजी कृत भाषा टीका समाप्त ॥

पण्डित श्री दौलतरामजी कृत अन्तिम प्रशस्ति

(दोहा)

अमृतचन्द्र मुनीन्द्रकृत, ग्रन्थ श्रावकाचार ।
अध्यातमरूपी महा, आर्या छन्द जु सार ॥
पुरुषार्थ की सिद्धि को, जामें परम उपाय ।
जाहि सुनत भवभ्रम मिटै, आतमतत्त्व लखाय ॥
भाषा टीका ता उपरि, कीनी टोडरमल्ल ।
मुनिवर वृत्ति वाकी रही, ताके माहिं अचल्ल ॥
वे तो परभव को गए, जयपुर नगर मँझार ।
सब साधर्मी तब किया, मन में यही विचार ॥
ग्रन्थ महा उपदेशमय, परम धाम को मूल ।
टीका पूरण होय तो, मिटै जीव की भूल ॥
साधर्मिन में मुख्य हैं, रतनचन्द दीवान ।
पृथ्वीसिंह नरेश को, श्रद्धावान सुजान ॥
तिनके अतिरुचि धर्म सों, साधर्मिन सों प्रीति ।
देव-शास्त्र-गुरु की सदा, उर में महा प्रतीति ॥
आनन्दसुत तिनको सखा, नाम जु दौलतराम ।

भृत्य भूप को कुल वणिक, जाको वसवे धाम ॥
कुछ इक गुरु परताप सें, कीनों ग्रन्थ अभ्यास ।
लगन लगी जिनधर्म सों, जिन दासन को दास ॥
तासों रतन दीवान ने, कही प्रीति धरि येह ।
करिये टीका पूरण, उर धरि धर्म सनेह ॥
तब टीका पूरण करी, भाषारूप निधान ।
कुशल होय चहुं संघ को, लहै जीव निज ज्ञान ॥
सुखी होय राजा प्रजा, होय धर्म की वृद्धि ।
मिटें दोष दुख जगत के, पावें भविजन सिद्धि ॥
अद्वारह सें ऊपरे, सम्बत् सत्ताईस ।
मास मार्गशिर ऋतु शिशिर, सुदि दोयज रजनीश ॥

इति श्री अमृतचन्द्रसूरिकृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अपरनाम
जिनप्रवचनरहस्यकोष ग्रन्थ सम्पूर्णा ।

इसप्रकार पण्डित श्री दौलतरामजी कासलीवाल कृत (सकलचारित्र)
भाषा टीका समाप्त ।



कोई कहे कि आत्मा एकान्त शुद्ध है और उसे विकार या कर्म का कोई सम्बन्ध है ही नहीं, तो वह बात यथार्थ नहीं है। आत्मा द्रव्यस्वभाव से शुद्ध है, परन्तु पर्याय में उसे विकार भी है, वह विकार अपनी भूल से है और स्वभाव को प्रतीति द्वारा वह दूर हो सकता है तथा शुद्धता हो सकती हैं। विकारभाव में अजीवकर्म निमित्त हैं, विकार टलने पर वे निमित्त भी छूट जाते हैं। इसप्रकार द्रव्य-पर्याय, शुद्धता-अशुद्धता, निमित्त-इन सबका ज्ञान बराबर करना चाहिए। उन्हें जानकर शुद्ध आत्मा की दृष्टि करनेवाला जीव सम्यग

ह्व पूज्य श्री कानजी स्वामी

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के श्लोकों की वर्णानुक्रमणिका

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
अक्रमकथनेन यतः	१९-४९८	आमां वा पक्वां वा	६८-१०१
अतिचाराः सम्यक्त्वे	१८१-२०६	आहारो हि सचितः	१९३-२१५
अतिसंक्षेपाद् द्विविधः	११५-१३८	इ	
अत्यन्तनिशितधारं	५९-९५	इति यःपरिमितभौगैः	१६६-१८२
अथ निश्चितसचितौ	११७-१३९	इति यो व्रतरक्षार्थं	१८०-२०४
अनवेक्षिताप्रमार्जित	१९२-२१४	इति यः षोडशायामान्	१५७-१७२
अध्रुवमशरणमेकत्व	२०५-२३४	इति रत्नत्रयमेतत्	२०९-२४१
अनवरतमहिंसायां	२९-६४	इति नियमितदिग्भागे	१३८-१५७
अनुसरतां पदमेतत्	१६-४७	इति विरतो बहुदेशात्	१४०-१५८
अबुधस्य बोधनार्थं	०६-३१	इति विविधभगगहने	५८-९४
अप्रादुर्भावः खलु	४४-८२	इत्थमशेषितहिंसाः	१६०-१७४
अभिमान भयजुगुप्सा	६४-९९	इत्यत्र त्रितयात्मनि	१३५-१५५
अमृतत्वहेतुभूतम्	७८-१०८	इत्येतानतिचाराण	१९६-२१८
अरतिकरं भीतिकरम्	९८-१२३	इदमावश्यकषट्कं	२०१-२२७
अर्कालोकेन विना	१३३-१५३	इत्याश्रितसम्यक्त्वेः	३१-६६
अर्था नाम य एते प्राणा	१०३-१२८	इयमेकैव समर्था	१७५-१९४
अवबुध्य हिंस्य हिंसक	६०-९५	इह जन्मनि विभवादीन्य	२४-५९
अनशनमवमौदर्यं	१९८-२२०	उ	
अवितीर्णस्य ग्रहणं	१०२-१२७	उक्तेन ततो विधिना	१५६-१७१
अविधायपि हि हिंसा	५१-९०	उपलब्धिसुगतिसाधन	८७-११५
अविरुद्धा अपि भोगा	१६४-१८१	उभयपरिग्रहवर्जन	११८-१३९
अष्टावनिष्ठदुस्तर	७४-१०५	ऊ	
असदपि हि वस्तुरूपं	९३-१२०	ऊर्ध्वमधस्ततिर्यत्	१८८-२११
असमग्रं भावयतो	२११-२४३	ए	
असमर्था ये कर्तुं	१०६-१३०	एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्य	१६२-१७६
असिधेनुहुताशन	१४४-१६२	एकस्मिन् समवायाद्	२२१-२६६
अस्ति पुरुषश्चिदात्मा	०९-३६	एकस्य सैव तीव्रं	५३-९१
आ		एकस्याल्पा हिंसा	५२-९०
आत्मपरिणामहिंसन	४२-८०	एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती	२२५-२७०
आत्मा प्रभानीयो	३०-६४	एकः करोति हिंसा	५५-९३
आमास्वपि	६७-१००	एवं न विशेषस्यादने	१२०-१४१

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
एवमतिव्याप्तिः स्यात्	११४-१३७	तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं	१२४-१४४
एवमयं कर्मकृतैर्भावै	१४-४४	तत्रादौ सम्यक्त्वं	२१-५२
एवं विधमपरमपि ज्ञात्वा	१४७-१६४	तत्रापि च परिमाणं	१३९-१५८
एवं सम्यग्दर्शनबोध	२०-५१	द	
ऐ		दर्शनमात्म विनिश्चिति	२१६-२६१
ऐहिकफलानपेक्षा	१६९-१८५	द्वाविंशतिरप्येते	२०८-२४१
क		दृष्टापरं पुरस्तादशनाय	८९-११७
कर्तव्योऽध्यवसायः	३५-७२	ध	
कन्दर्पः कौत्कुच्यं	१९०-२१३	धनलवविपासितानां	८८-११६
कस्यापि दिशति हिंसा	५६-९३	धर्मध्यानासक्तो वासर	१५४-१७०
काम क्रोधमदादिषु	२८-६३	धर्ममहिंसा रूपं	७६-१०६
कारणकार्यविधानं	३४-७१	धर्मः सेव्यः क्षान्ति	२०४-२३१
किं वा बहुप्रलपितैरिति	१३४-१५४	धर्मोऽभिवर्धनीयः	२७-६२
को नाम विशति मोहं	९०-११८	धर्मो हि देवताभ्यः	८०-१११
कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति	८६-११५	न	
कृतकारितानुमननै	७५-१०५	नवनीतं च त्याज्यं	१६३-१७९
कृतकृत्य परमपदे	२२४-२६९	ननु कथमेवं सिद्ध्यति	२१९-२६४
कृतमात्मार्थं मुनये	१७४-१९२	न विना प्राणविघातात्	६५-९९
ग		न हि सम्यग्व्यपदेशं	३८-७७
गर्हितमवद्यसंयुत	९५-१२१	नातिव्याप्तिश्च तयोः	१०५-१२९
गृहमागताय गुणिने	१७३-१९१	निजशक्त्या शेषाणां	१२६-१४६
ग्रन्थार्थोभयपूर्ण	३६-७३	नित्यमपि निरूपलेपः	२२३-२६८
च		निरतः कात्स्न्यं निवृत्तौ	४१-७९
चारित्रान्तर्भावात्	१९७-२१९	निर्बाध संसिध्येत्	१२२-१४२
चारित्रं भवति यतः	३९-७७	निश्चयमबुध्यमानो	५०-८८
छ		निश्चयमिह भूतार्थं	०५-२९
छेदनताडन बन्धा	१८३-२०७	नीयन्तेऽकषाया	१७९-२०४
छेदनभेदनमारणकर्षणा	९७-१२२	नैवं वासरभुक्तेर्भवति	१३२-१५२
ज		प	
जिनपुंगवप्रवचने	२००-२२६	परदातृव्यपदेशः	१९४-२१६
जीवकृतं परिणामं	१२-४१	परमागमस्य जीवं	०२-२४
जीवाजीवादीनां	२२-५३	परिणममानस्य चित्त	१३-४२
जीवितमरणांशसे	१९५-२१६	परिणममानो नित्यं	१०-३८
त		परिधय इव नगराणि	१३६-१५६
तज्जयति परं ज्योतिः	०१-२२		

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
पात्रं त्रिभेदमुक्तं	१७१-१८८	मिथ्योपदेशदानं	१८४-२०८
पापद्विजयपराजय	१४१-१५९	मुख्योपचारविवरण	०४-२७
पुनरपि पूर्वकृतायां	१६५-१८१	मुक्तसमस्तारम्भः	१५२-१६८
पूज्यनिमित्तं घाते	८१-१११	मूर्च्छालक्षणकरणात्	११२-१३३
पैशून्यहासगर्भं	९६-१२२	य	
पृथगाराधनमिष्टं	३२-६६	यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां	४३-८१
प्रविधाय सुप्रसिद्धै	१३७-१५७	यदपि किल भवति मांसं	६६-१००
प्रतिरूपव्यवहारः	१८५-२०९	यदपि क्रियते किञ्चिन्	१०९-१३३
प्रविहाय च द्वितीयान्	१२-१४५	यदिदं प्रमादयोगाद्	९१-११९
प्रागेव फलति हिंसा	५४-९२	यद्वेदरागयोगान्	१०७-१३२
प्रातः प्रोत्थाय ततः	१५५-१७१	यद्येवं तर्हि दिवा	१३१-१५१
प्रेष्यस्य संप्रयोजन	१८९-२१२	यद्येवं भवति तदा	११३-१३६
ब		यस्मात्सकषायः सन्	४७-५५
बद्धोद्यमेन नित्यं	२१०-२४३	यानि तु पुनर्भवेयुः	७३-१०४
बहिरङ्गादपि सञ्जात्	१२७-१४७	या मूर्च्छा नामेयं	१११-९५
बहुदुःखासंज्ञपिताः	८५-११४	युक्ताचरणस्य सतो	४५-८४
बहुसत्त्वघातजनिता	८२-११२	येनांशेन सुदृष्टि	२१२-२५४
बहुसत्त्वघातिनोऽमी	८४-११३	येनांशेन ज्ञानं	२१३-२५४
बहुशः समस्तविरतिं	१७-४८	येनांशेन चरित्रं	२१४-२५४
भ		ये निजकलत्रमात्रं	११०-१३४
भूखननवृक्षमोदृ	१४३-१६१	योगात्प्रदेशबन्धः	२१५-२५८
भोगोपभोगमूला	१६१-१७५	यो निरुदुम्बरयुग्मं	७२-१०३
भोगोपभोगसाधनमात्रं	१०१-१२५	योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं	१२८-१४८
भोगोपभोगहेतोः	१५८-१७३	यो यतिधर्ममकथयन्तु	१८-४९
म		यो हि कषायाविष्टः	१७८-१९७
मधु मद्यं नवनीतं	७१-१०२	र	
मधुशकलमपि प्रायो	६९-१०२	रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाण	२२०-२६५
मद्यं मांसं क्षौद्रं	६१-९७	रजनीदिनयोरन्ते	१४९-१६६
मद्यं मोहयति मनो	६२-९७	रसजानां च बहूनां	६३-९८
मरणान्तेऽवश्यमहं	१७६-१९५	रक्षा भवति बहूनामेक	८३-११३
मरणेऽवश्यं भाविनि	१७७-१९६	रागद्वेषत्यागान्निखिल	१४८-१६५
माणवक एव सिंहो	०७-३३	रागद्वेषासंयममद	१७०-१८७
माधुर्यप्रीतिः किल	१२३-१४३		
मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव	११६-१३८		

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
रागादिवर्द्धनानां	१४५-१६२	सम्यग्गमनागमनं	२०३-२३०
रागाद्युदयपरत्वाद्	१३०-१५०	सम्यग्दण्डो वपुषः	२०२-२२९
रात्रौ भुञ्जानानां	१२९-१५०	सम्यग्ज्ञानं कार्यं	३३-७०
ल		सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्	९९-१२४
लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य	०३-२६	सर्वानर्थप्रथमं मथनं	१४६-१६१
लोके शास्त्राभासे	२६-६१	सामायिकाश्रितानां	१५०-१६७
व		सामायिकसंस्कारं	१५१-१६८
वचनमनःकायानां	१९१-२१३	सूक्ष्मापि न खलु हिंसा	४९-८७
वर्णैः कृतानि चित्रैः	२२६-२७१	सूक्ष्मो भगवद्भर्मो	७९-१०९
वस्तु सदपि स्वरूपात्	९४-१२१	संग्रहमुच्चस्थानं	१६८-१८४
वाग्मुप्तेर्नास्त्यनृतं न	१५९-१७४	स्तोकैकेन्द्रियघाताद्	७७-१०८
वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्य	१८७-२११	स्पर्शश्च तृणादीनाम	२०७-२४१
विगलितदर्शनमोहैः	३७-७६	स्मरतीव्राभिनिवेशो	१८६-२१०
विद्यावाणिज्यमधीकृषि	१४२-१६०	स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि	९२-११९
विधिना दातृगुणवता	१६७-१८३	स्वयमेव विगलितं यो	७०-१०२
विनयो वैयावृत्त्यं	१९९-२२२	ह	
विपरीताभिनिवेशं	१५-४६	हरिततृणांकुरचारिणि	१२१-१४२
व्यवहारनिश्चयौ यः	०८-३४	हिंसातोऽनृतवचनात्	४०-७९
व्युत्थानावस्थायाम्	४६-८४	हिंसापर्यायत्वात्	११९-१४०
श		हिंसाफलमपरस्य तु	५७-९४
शङ्का तथैव काङ्क्षा	१८२-२०६	हिंसाया अविरमणं	४८-८६
श्रित्वा विविक्तवसतिं	१५३-१६९	हिंसायाः पर्यायो	१७२-१९०
सकलमनेकान्तात्मक	२३-४८	हिंसायाः स्तेयस्य च	१०४-१२८
सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदा	११-४०	हेतौ प्रमत्तयोगे	१००-१२४
सति सम्यक्त्वचरित्रे	२१८-२६३	क्ष	
सम्यक्त्वचरित्राभ्यां	२१७-२६२	क्षुत्तृष्णाशीतोष्ण	२५-६०
सम्यक्त्वबोधचारित्र	२२२-२६७	क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं	२०६-२४१

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1. स्वाध्यायसंघश्री पदमप्रेम दि.जैन जिनालय, खतौली	3100
2. श्रीमती कस्तूरी देवी पुदलिया सरदारशहर	1100
3. चि. स्वस्ति पवन कुमारजी जैन व डॉ शिरढोणे मिरजे किशनगढ़	501
4. श्रीमती कुसुम जैन ध. प. विमलकुमारजी जैन, नीरुकेमिकल्स, दिल्ली	500
5. श्रीमती चन्द्रा शाह ध. प. श्री हंसमुखलालजी शाह, कुशलगढ़	500
6. श्री अक्षयकुमार प्रेमकुमारी जी ढावरिया, जयपुर	500
7. श्री राहुल जैन, अहमदाबाद	500
8. प्रफुल्लचन्द केशवलाल दोशी की स्मृति में नलिनी दोशी एवं परिवार, मुम्बई	500
9. श्रीमती लीलावती रणदीवे, सांगली	301
10. चि. संयम उद्गावें हस्ते के. डी. उद्गावें, सांगली	300
11. चि. श्रेयस नेज मु.पो. तेलाकुणी, त. आळंद, जि. गुलबर्गा, कर्नाटक	105
12. श्रीमती लक्ष्मी जैन, दिल्ली	105
13. चि. स्वस्ति उद्गावें हस्ते सौ. कमल उद्गावें, सांगली	100

कुल योग 8112

मनुष्यभव की उपयोगिता

हे भार्ही! आत्मा को भूलकर भव में भटकते हुए अनन्तकाल बीत गया, उसमें अति मूल्यवान यह मनुष्य अवतार और धर्म का ऐसा दुर्लभ योग तुझे प्राप्त हुआ है तो अब परमात्मा जैसा ही तेरा जो स्वभाव है; उसे दृष्टि में लेकर मोक्ष का साधन कर, प्रयत्न पूर्वक सम्यक्त्व प्रकट कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म की उपासना कर, और यदि इतना न बन सके तो श्रावकधर्म का जरूर पालन करे।

ह्र पूज्य श्री कानजी स्वामी